जैन परम्परा

विषय-सूची

१. आयारो में सर्वज्ञता के बीज
२. अनेकान्त की व्यापकता
३. अनेकान्तवाद और भारतीय दर्शन
४. भेद में अभेद
५. अहिंसा, सांस्कृतिक मूल्य एवं शान्ति
६. अहिंसा-दर्शन और आतंकवाद
७. हिंसा कैसे कम हो
८. HOW A NON-VIOLENT FUTURE IS POSSIBLE
९. अपरिग्रह: साम्यवाद का भारतीय संस्करण
१०. अपरिग्रह का अर्थशास्त्र
११. समग्रदृष्टि का अर्थशास्त्र
१२. जैन समाज की आर्थिक स्थिति
१३. संयम
१४. कर्म और अकर्म
१५. स्वाध्याय कैसे करें
१६. साधना क्यों और कैसे
१७. जैन प्रमाणमीमांसा
१८. तीर्थङ्कर ऋषभदेव का मानवीय संस्कृति के विकास में योगदान
१९. भगवान् महावीर और समाज-दर्शन
२०. भगवान् महावीर की प्रासङ्गिकता
२१. भगवान महावीर और स्वास्थ्य
२२. आचार्य भिक्षु: व्यक्ति एवं चिन्तक
२३. आचार्य महाप्रज्ञ का चतुर्विध युग-प्रधानत्व*
२४. आचार्य तुलसी का भारतीय संस्कृति को योगदान
२५. शान्ति पथ प्रदर्शन :एक सम्मति
२६. महावीर मेरी दृष्टि में: सम्पादकीय
२७. जैन धर्म- हिन्दू धर्म
२९. जैन परम्परा में विधायक मूल्य
३०. योगसाधना एवं समाज

आयारो में सर्वज्ञता के बीज

(डॉ. दयानन्द भार्गव प्रोफेसर एवम् अध्यक्ष, जैनविद्या तुलनात्मक धर्म दर्शन विभाग, जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूँ, राजस्थान)

पण्डित सुखलाल जी संघवी का कथन है,- ''सर्वज्ञवाद की परम्परा का अवलम्बी मुख्यतया जैन सम्प्रदाय ही जान पड़ता है।''—(प्रमाण मीमांसा, भाषा टिप्पण पृ.३०)। पंडित सुखलाल जी संघवी ने अपने वक्तव्य के समर्थन में आचारांग सूत्रस्कन्ध द्वितीय चूला तीन का प्रमाण दिया है- कि ''जैन आचार्यों ने प्रथम से ही अपने तीर्थकरों में सर्वज्ञत्व को माना और स्थापित किया है।''- ''**से भगवं अरहं जिणे केवली सव्वन्नू सव्वभावदरिसो सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स पज्जाए जाणइ।**''

प्रस्तुत निबन्ध में हम इस जिज्ञासा को लेकर चलेंगें कि जैन आगमों के प्राचीनतम अंश आयारों में सर्वज्ञता के बीज किस रूप में उपलब्ध होते हैं। बृहत्कल्प भाष्य में केवलज्ञान के जो अनेक लक्षण बताये गये हैं उनमें एक लक्षण अविकल्पित है।—(बृहत्कल्प भाष्य, पीठिका, गा. ३८)**दव्वादि कसिण विसयं केवलमेगं तु केवलन्नाणं, अणिवारियवावारं, अणंतगविकप्पिय नियतं।।** अविकल्पित से तात्पर्य है कि केवलज्ञान में ज्ञेय पदार्थ युगपत् प्रतिबिम्बित होते हैं केवली का ज्ञान हमारे ज्ञान की भांति क्रमिक नहीं होता हम पदार्थों को इन्द्रिय और मन की सहायता से जानते हैं केवल ज्ञान में इनके सहायता की अपेक्षा नहीं होती। हम अपने ज्ञान के द्वारा उसी ज्ञेय पदार्थ को जानते हैं जिस ज्ञेय की ओर हमारा उपयोग जाये। केवली को जानने के लिये उपयोग लगाने की आवश्यकता नहीं होती । इस विवरण से यह स्पष्ट है कि केवली की सर्वज्ञता की स्थिति को हम अपने ज्ञान से तुलना करके नहीं समझ सकते। केवल ज्ञान एक प्रकार से ज्ञान का विस्फोट है जैसे टॉर्च के प्रकाश में हम थोड़े-थोड़े प्रदेश को देख पाते हैं किन्तु आकाश में बिजली के कोंधने पर सभी पदार्थ युगपत् प्रकाशित हो जाते हैं। उसी प्रकार छद्मस्थ का ज्ञान एक-एक करके सीमित पदार्थों को युगपत् जान लेता है। हमारी सारी भाषा तर्क प्रणालो और समझ छद्मस्थ के ज्ञान से जुड़ी है केवली की स्थिति को शब्द नहीं कह पाते,—(आयारो ५,६,१२३—सव्वे सरा नियट्टंति) तर्क नहीं जान पाता—(वही ५.६.१२४- तक्का जत्थ ण विज्जइ) और बुद्धि नहीं पकड़ पाती—(वही ५.६.१२५- मई तत्थ ण गाहिया) आयारो के इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि क्रमिकता के कारण भाषा युगपत् होने वाले ज्ञान को

अभिव्यक्त नहीं कर सकती। अनुमान भी लिङ्ग-लिङ्गी के भेद पर टिका होने के कारण द्वैत पर टिका है और युगपत् होने वाले ज्ञान को नहीं पकड़ पाता। बुद्धि का कार्य विश्लेषण है किन्तु केवलज्ञान संश्लिष्ट है इसलिये वह बुद्धि का विषय नहीं बन सकता।

हमारे ज्ञान के क्रमिक होने का हेतु यह है कि ज्ञानावरणीय कर्म का आवरण आत्मा के पूर्ण वैभव को प्रकट नहीं होने देता। हम उतने ही अंश को जान पाते हैं जितने अंश में हमारी आत्मा के ज्ञानावरण का क्षयोपशम है किन्तु केवली के ज्ञानावरण का सर्वथा क्षय हो जाने के कारण उसके ज्ञान की कोई सीमा नहीं रहती। यह ज्ञानावरण ही वह उपाधि है जो हमारे ज्ञान को केवली के ज्ञान से भिन्न करती है। आयारो केवली में किसी भी प्रकार की उपाधि का निषेध करता है—(आयारो ३.४.८७ तथा ४.४.५३—किमात्थि उवाही पासगस्स ण विज्जइ ? णात्थि)। उपाधि रहित होने पर आत्मा सभी प्रकार की सीमाओं से मुक्त हो जाता है। आयारो का स्पष्ट कथन है कि वह न दीर्घ है। न हस्व न वृत्त है न त्रिकोण न चतुष्कोण है न परिमण्डल, न शब्द है न रूप न रस है न स्पर्श—(आयारो ५.६.१२७,१४०- से ण दीह, ण हस्से, ण वट्टे, ण तंसे, ण चउरंसे, ण परिमंडले, से ण सद्दे, न रूवे, ण गंधे, ण रसे, ण फासे, इच्चेताव)। आत्मा का यह वर्णन निश्चय नय की दृष्टि से है। आयारो के आत्म संबंधी इस सारे निषेधात्मक विवरण में भी दो पद विधिपरक हैं क्ष रवेयण्णे (क्षेत्रज्ञ) तथा परिण्णे सण्णे (परिज्ञा संज्ञा) अभिप्राय यह है कि आत्मा चेतनामय है और ज्ञाता है अर्थात् चेतना और ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। आत्मा के इस स्वभाव में प्रतिबन्धक उपाधि ही है। उपाधि रहित होने पर शुद्ध आत्मा का यह स्वभाव अपने पूर्ण रूप में आविर्भूत होने के कारण सभी ज्ञेयों को अपना विषय बना लेता है यही सर्वज्ञता है।

केवल ज्ञान की स्थिति में केवली किसी भी पदार्थ की ओर अपना उपयोग नहीं लगाता इसलिये परमार्थ की दृष्टि से उसके लिये यह नहीं कहा जा सकता कि वह सबको जानता है। अपने स्वरूप में स्थित होने के कारण परमार्थत: तो वह अपने को ही जानता है किन्तु उसके ज्ञान में कोई प्रतिबन्धक न रह जाने के कारण उसकी आत्मा में सब कुछ प्रतिबिम्बित हो जाता है इसलिये व्यवहार दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि वह सब कुछ जानता है।

जाणदि पस्सदि सत्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणादि पस्सदि णियमेण अप्पाणं।।—(नियमसार, गा १५९)
आयारचूला में सर्व का विस्तार करते हुये चौदह भावों की सूची दी गई है- १. आगति, २. गति, ३. स्थिति, ४. च्यवन, ५. उपपात्, ६. मुक्त, ७. पीत, ८. कृत्, ९. प्रतिसेवित्, १०. आविष्कर्म प्रगट में होने वाला कर्म, ११. रहस्य कर्म, १२. लपित्, १३. कथित, १४. मनो मानसिक—(आयारचुला १५/३९)।

सर्वज्ञता संबंधी इस विस्तार से जुड़े हुये अनेक प्रश्न परवर्ती जैन दार्शनिक साहित्य में खड़े हो गये। इनमें दो प्रश्न मुख्य हैं १. क्या सर्वज्ञता इस अर्थ में संभव है कि कोई आत्मा त्रिलोकी के समस्त पदार्थों की त्रिकालवर्ती पर्याय को जान सके। २. और यदि यह संभव है तो फिर क्या ऐसा नियतिवाद स्थापित न हो जायेगा जिसमें पुरुषार्थ का कोई स्थान नहीं। इस संबंध में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। प्रथम तो जैन परम्परा में काल की गति वर्तुलाकार है। इसलिये यद्यपि काल अनादि और अनन्त है तथापि एक अवधि विशेष के बाद काल में नवीनता नहीं रहती अपितु पुनरावत्ति होनी प्रारम्भ हो जाती है। इस पुनरावृत्ति के तथ्य को ही कालचक्र के छः अरों के रूप में अभिव्यक्त किया गया है। इनमें छहों अर जिस प्रकार एक उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी में होते हैं उसी प्रकार सभी उत्सर्पिणी - अवसर्पिणी में होते हैं। अर्थात् एक उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी में दुःषमा-दुःषमा से लेकर सुषमा-सुषमा तक प्रत्येक आरे की जो विशेषता है वही विशेषता प्रत्येक उत्सर्पिणी -अवसर्पिणी में प्रत्येक घटना के अनेक निमित्तों में काल भी एक है। काल के निमित्त से होने वाले घटनाओं का एक निश्चित क्रम है और इसलिये उन घटनाओं को जाना जा सकता है। उदाहरणतः प्रत्येक आरे में मनुष्य की ऊँचाई, आयु, स्वभाव आदि निर्धारित हैं—(तिलोयपण्णत्ती, ४/१५६३-१६०५) यदि काल की गति रेखाकार होती तो यह पुनरावृत्ति संभव नहीं थी।

जिस प्रकार काल की गति एक नियत दिशा में चलती है उसी प्रकार जीव भी लोकाकाश में जितने स्थानों पर उत्पन्न हो सकता है वे स्थान सीमित हैं। जितने समय में लोकाकाश के सभी प्रदेशों में जीव उत्पन्न हो चुका हो वह षादर पुद्गल परावर्तन काल कहलाता है। सूक्ष्म पुद्गलपरावर्तन काल के अन्तर्गत लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश में जीव क्रमिक रूप में जन्म ले चुका होता है। हम ऐसी अवधि की भी कल्पना कर सकते हैं। लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश में जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के प्रत्येक समय में जन्म ले चुका हो और इस प्रकार देश और काल के मिलकर जितने भंग संभव है वे सभी भंग चुक जायें। ऐसी स्थिति में जीव की देश-काल संबंधी परिस्थिति का कोई नया भंग शेष नहीं रह जाता और पुराने भंगो

की ही पुनरावतृत्ति होने लगती है। देश-काल की इन समस्त संभव भंगो को जान लेने के बाद कोई नया भंग जानना शेष नहीं रहता। षड़ आरे वाले कालचक्र और लोकाकाश के प्रदेश के सीमित होने के कारण देश-काल के पारस्परिक मिश्रण से होने वाले सभी संभव भंग ज्ञान का विषय बन सकते है और सर्वज्ञ के ज्ञान में आ सकते हैं—

जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ
जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ- आयारों ३.४.७४

जहां तक नियतिवाद का प्रश्न है यह स्पष्ट है कि केवल देश और काल ही हमारे नियामक नहीं है। हमारे नियामक पांच हेतु मिलकर हैं- काल, स्वभाव, पुरुषार्थ, नियति, कर्म। इनमें काल, स्वभाव और नियति के भंग नियत हैं किन्तु पुरुषार्थ और कर्म नियत नहीं हैं। ऐसी स्थिति में एकान्त नियतिवाद के लिये स्थान नहीं हैं। एक ही देश और काल में उत्पन्न होने वाले दो जीव एक ही प्रकार के कर्म नहीं करते और ना ही एक प्रकार के सुख-दु:ख भोगते हैं। इस मर्थ में ज्योतिष की भी एक सीमा है जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिये अवकाश छोड़ देती है अन्यथा एक ही स्थान पर एक ही काल में उत्पन्न होने वाले दो जातको की कुण्डली एक ही होने के कारण उनका भाग्य भी एक जैसा ही होना चाहिये किन्तु ऐसा नहीं होता। उनमें एक जातक श्रेष्ठी के घर उत्पन्न होता है दूसरा भिखारी के घर। ऐसा कर्म फल की विभन्नता के कारण है। न ही उन दो जातकों का पुरुषार्थ एक जैसा दिखाई देता है स्पष्ट दिखाई देने वाला यह अन्तर ही इस बात का सूचक है कि नियतिवाद में भी पुरुषार्थ का स्थान बना रहता है अत: सर्वज्ञता के परिप्रेक्ष्य में सर्व क अनेक अर्थ लिये जा सकते हैं-

१. सर्व का अर्थ है पदार्थों की सभी संभव पर्याय सर्व सभी संभव पयार्यों को जानता है किन्तु पर्यायों के क्रम को नहीं।
२. आत्मा की निर्मलता के कारण केवली सबको जानने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है, उसकी सर्वज्ञता पुरुषार्थ द्वारा हमारे परिणमनों को नई-नई दिशा देने में बाधक नहीं है।
३. केवली सभी पदार्थो के स्वभाव को जान लेता है, कौन पदार्थ अपने स्वभाव का क्या उपयोग किस समय करे इसकी स्वतन्त्रता पदार्थ को है।

आयारों का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है जो एक को जानता है वह सबको जानता है इस वाक्य की दो व्याख्याएं संभव हैं - एक आत्मपरक है दूसरी अनेकान्तपरक। आत्मा के पक्ष में इस वाक्य का अर्थ होगा जो आत्मा को जानता है

वह सबको जानता है। निश्चय नय में सर्वज्ञ आत्मा को जानता है। व्यवहार नय से सर्वज्ञ सबको जानता है। अनेकान्त के पक्ष में इस वाक्य का अर्थ होगा जो एक पदार्थ को जान लेता है वह सबको जान लेता है। यह स्थिति सर्वज्ञता में ही संभव है क्योंकि सर्वज्ञ विश्व को खण्ड-खण्ड करके नहीं जानता प्रत्युत अखण्ड रूप में जानता है इसलिये उसके लिय यह संभव नहीं है कि कुछ को जाने कुछ को न जाने। वह जब एक को जानता है उस काल में सबको ही जानता है। सर्वज्ञ के इस ज्ञान से ही पदार्थों की पारस्परिक संबद्धता प्रकट होती है उसकी आत्मा में क्योंकि सब पदार्थ युगपत् पतिबिम्बित होते हैं अत: उन पदार्थो का पारस्परिक संबंध भी उसके ज्ञान में प्रत्यक्ष दिखाई देता है पदार्थों के इस पारस्परिक संबंध से ही सापेक्षता के सिद्धान्त का जन्म होता है जिसके अन्तर्गत हम एक पदार्थ को अनेक पदार्थों के झरोखों से देख सकते हैं। अनेकान्त की और सापेक्षता की इस दृष्टि से ही स्याद्वाद का जन्म होता है।

क्योंकि एक पदार्थ की सभी अपेक्षा को भाषा में एक साथ नहीं कहा जा सकता इसलिये कोई भी वाक्य सम्पूर्ण सत्य का वाचक नहीं होता अपितु सापेक्ष सत्य का ही वाचक होता है इसी तथ्य का संकेत करने के लिये हर वक्तव्य के पहले स्यात् पद लगा रहता है। जहां यह स्यात् पद नहीं है वहां भी इसे अन्तर्निहित मान लेना चाहिये।

यदि हम आयारो पर दृष्टि डालें तो यह पायेंगे कि सर्वज्ञ द्वारा साक्षात् कृत सत्य को भाषा में निबद्ध करते समय एक क्रमिकता बरती गई हैं आयारों का प्रारम्भ उन चार मान्यताओं से होता है जो महावीर की सम्पूर्ण दृष्टि की मूल भित्ति है।

।। श्रीः ।।

अनेकान्त की व्यापकता

अनेकान्त और अनेकान्तवाद

१. सर्वप्रथम मैं अनेकान्त और अनेकान्तवाद में अन्तर करना चाहता हूँ। मेरा ऐसा करने का आधार श्रीमद्भगवद्गीता है जिसमें 'वेद' तथा 'वेदवाद' शब्दों का प्रयोग दो भिन्न अर्थों में किया गया है। श्री कृष्ण कहते हैं-

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविप्रश्चितः
वेदवादरताः पार्थ। नान्यदस्तीति वादिनः ।।२.४२।।
कामात्मन स्वर्गपंरा जन्मकर्मफल प्रदाम्
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्य गतिं प्रति।।२.४३।।
मोगैश्वर्य प्रसक्तानां तयापहृत चेतसाम्
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौन विधीयते।।२४४।।

स्पष्ट है कि यहाँ 'वेदवाद' में 'रत' लोगों की यह कहकर निन्दा की गयी है कि वे यह कहा करते हैं कि 'नान्यदस्ति' -- 'इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।' यह जैन परम्परा के 'एव' की ही व्याख्या है। जैन विद्या के अध्येताओं के बीच कहने की आवश्यकता नहीं है कि 'एव' एकान्त का सूचक है। जब कोई वैदिक धर्मावलम्बी यह कहता है कि वेद ही सब कुछ है, वेद के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है तो वह समाधि को प्राप्त नहीं कर सकता। यह वेद के प्रति एकान्त दृष्टि रखने का परिणाम है।

अभिप्राय यह है कि वेद अपरा विद्या है। वह स्वर्ग की प्राप्ति का साधन तो है किन्तु यह कहना ठीक नहीं कि 'वेद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है;' क्योंकि यदि वेद अपरा विद्या है तो उसके अतिरिक्त एक परा विद्या भी है जिसके द्वारा अक्षर तत्व का अधिगम होता है- अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।

अर्थात् वेद एक अपेक्षा से सार्थक है किन्तु दूसरी एक ऐसी अपेक्षा भी है जहाँ वेद की गति नहीं है। वह क्षेत्र परा विद्या का है। इसी बात को गीता में 'त्रेगुण्य विषया वेदाः नैस्त्रेग्यो भवार्जुन' (२.४५) कह कर प्रकट किया गया है।

यह तो एक अपेक्षा से वेद की सीमा हुई, दूसरी अपेक्षा से वेद की प्रशंसा परक वाक्य भी गीता में ही उपलब्ध हो जायेंगे- प्रणवः सर्ववेदेषु (७.८), वेदानां सामवेदोऽस्मि (१०.२२) तथा वेदैश्च सर्वे रहमेव वेद्यः (१५.१५) इत्यादि। निष्कर्ष यह हुआ कि जहाँ वेद की सीमा बतायी गयी है वहाँ 'वेदवाद' शब्द का प्रयोग है

किन्तु जहाँ वेद की प्रशंसा की गयी है वहाँ 'वेदवाद' के स्थान पर केवन वेद शब्द का प्रयोग है।

इस आधार मैं कहना चाहता हूँ कि जहाँ तक अनेकान्तवाद का प्रश्न है, वह एकवाद है, एक दर्शन है, एक दृष्टि है। उस दर्शन को हम आज जैन दर्शन के नाम से जानते हैं। स्वाभाविक है कि यदि जैन दर्शन एक दर्शन है तो वेदान्त, बौद्ध आदि अन्य दर्शन भी हैं जिनका जैन दर्शन से मतभेद है। अत: वे दर्शन अनेकान्तवाद को स्वीकार नहीं करेंगे। यदि वे भी अनेकान्तवाद को स्वीकार कर लें तो उनका अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा; वे तो जैन दर्शन में ही विलीन हो जायेंगे। अत: अनेकान्तवाद की स्वीकार्यता सीमित ही है। वह अधिक से अधिक वस्तुवादी दर्शनों (Realist Systems) को स्वीकार हो सकता है, जैसा कि पूर्व मीमांसा को स्वीकार है भी किन्तु प्रत्ययवादी (Idealist systems) दर्शन उसे स्वीकार नहीं कर सकते जैसा कि वेदान्त और बौद्ध उसे स्वीकार नहीं करते हैं। यही अनेकान्तवाद की सीमा है; वह वस्तुवादियों को स्वीकार्य है प्रत्ययवादियों को स्वीकार्य नहीं है।

किन्तु यदि अनेकान्त को एक वाद बनाकर उसे विवाद का विषयन बनायें, तो अनेकान्त की स्वीकार्यता सर्वव्यापक हो सकती है। अत: हम 'अनेकान्तवाद' पर विचार न करके प्रस्तुत पत्र में यह विचार करेंगे कि 'अनेकान्त' की सर्वव्यापकता तथा सर्वदर्शन स्वीकार्यता कैसे बनती है। वाद के रूप में तो किसी भी सिद्धान्त की स्वीकार्यता सीमित ही हो सकती है। वाद का स्वरूप ही ऐसा है कि वह एकपक्षीय ही होता है।

वेदान्त और अनेकान्त

२. 'नैकस्मिन्नसम्भवात्' (ब्रह्मसूत्र) की व्याख्या करते समय आचार्य शङ्कर ने अनेकान्तवाद का खण्डन किया है। उन का कहना है कि एक में परस्पर विरोधी दो धर्म नहीं रह सकते। अत: अनेकान्तवाद समीचीन नहीं है। इस पर अनेक जैन तथा जैनतर विद्वानों का कहना है कि आचार्य शङ्कर अनेकान्तवाद को ठीक स समझे नहीं। मेरा मानना है कि आचार्य शङ्कर ने अनेकान्तवाद को ठीक से समझकर ही उसका खण्डन किया है। वे अद्वैतवादी हैं। उनके अद्वैतवाद का आधार निरपेक्षता है जबकि अनेकान्तवाद का आधार सापेक्षता है; सापेक्षता सदा अनेकों में हो सकती है, एक में तो निरपेक्षता ही होती है। जब श्रुति का घोष है कि 'नेहनानास्ति किञ्चन' तो इस श्रुति का अनेकान्तवाद से कैसे मेल हो सकता है। अत: अद्वेतवादी शङ्कराचार्य ने अनेकान्तवाद को समझकर हो उसका खण्डन किया है; यह कहना ठीक नहीं है कि आचार्य शङ्कर अनेकान्तवाद को समझे नहीं थे।

आगम-प्रमाण को मानने वाले किसी भी ऐसे तर्क को स्वीकार नहीं कर सकते जो तर्क आगम के विरुद्ध जाये। शङ्कराचार्य की यही स्थिति है। वे श्रुति को अद्वैतवादी मानते थे और अनेकान्तवाद से द्वैतवाद सिद्ध हो जाता है। फि र शङ्कराचार्य अनेकान्तवाद को कैसे स्वीकार करते? इस पर यह आरोप आ सकता है कि श्रुति तर्क विरुद्ध है उत्तर यह है कि तर्क दोनों प्रकार का सम्भव है-- श्रुति विरु द्ध तर्क भी है तथा श्रुति सम्मत तर्क भी है। हमें श्रुति सम्मत तर्क की खोज करनी चाहिये-- श्रुतिमतस्तकोर्ऽनुसन्धीयताम्।

दो प्रकार के तर्क

३. डॉक्टर सत कड़ि मुखर्जी ने दो प्रकार के तर्कों का उल्लेख किया है। एक शुद्ध तर्क है जो अनुभव निपरेक्ष है, दूसरा अनुभव सापेक्ष तर्क है। उदाहरणार्थ हम दो वाक्य लें-

१. गुलाबी रंग लाल रंग से हल्का होता है।

२. यज्ञदत्त देवदत्त से कद में छोटा है।

इनमें पहला वाक्य अनुभव निरपेक्ष है। गुलाबी रंग का लक्षण ही है कि वह लाल रंग से हल्का होता है। अत: गुलाबी रंग लाल से हल्का होता है यह सिद्ध करने के लिए लाल रंग और गुलाबी रंग का अनुभव करने की आवयकता नहीं है। यदि कोई यह कहे कि गुलाबी रंग लाल रंग से गहरा होता है तो उसका यह कथन अनुभव किये बिना ही अप्रमाणिक माना जा सकता है। उसे यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि पहले हम गुलाबी रंग ओर लाल रंग को देखेंगे फि र बतायेंगे कि तुम्हारा कथन सत्य है या नहीं। यह अनुभव-निरपेक्ष तर्क की स्थिति है। इसे a prori logic कहते हैं।

किन्तु दूसरे वाक्य की प्रामाणिकता को जानने के लिए यज्ञदत्त और देवदत्त को देखना आवयक है। यज्ञदत्त और देवदत्त शब्दों में स्वयं में कोई ऐसा चिन्ह नही है कि बिना यज्ञदत्त और देवदत्त को देखे यह बताया जा सके कि उनमें कौन कद में बाँटा है और कद मं बड़ा है। अत: इस वाक्य की सत्यता अनुभव-सापेक्ष तर्क से सिद्ध होगी।

अब शङ्कराचार्य यह कहना है कि कोई पदार्थ है भी और नही भी इस की सत्यता को जानने के लिए अनुभव की आवश्यकता नहीं है। अस्ति नास्ति का व्यावर्तक है और नास्ति अस्ति का व्यावर्तक है। अत: जैन जिस अनुभव के आधार पर अस्ति और नास्ति का एक ही पदाथं में युगपद् होना मान रहा है उस अनुभव की अपेक्षा किये बिना ही हम यह कह सकते है कि अस्ति और नास्ति परस्पर

विरुद्ध धर्म है और वे एक में युगपद् नहीं रह सकते । अत: अनेकान्तवाद समीचीन नहीं है।

इस के विरुद्ध जैन का कहना है कि सभी तर्क अनुभव से सिद्ध होते हैं। हम अनुभव से ही तो यह जानते हैं कि कोई पदार्थ या तो होता है या नहीं होता हे। इसी आधार पर हम अस्तित्व और नास्तित्व को परस्पर विरुद्ध मानते हैं। किन्तु यदि हमें अनुभव से यह पता चले कि कोई पदाथ अपने द्रव्य, श्रेत्र, काल, भाव से होता है और दूसरे के द्रव्य, श्रेत्र, काल, भाव से नहीं होता है तो फिर हमें यह मानना होगा। कि पदार्थ स्वचतुष्टय से होता है और परच्तुष्टय से नहीं होता। इस प्रकार अनेकान्तवाद एक ही पदार्थ का एक अपेक्षा से अस्तित्व और दूसरी अपेक्षा से नास्तित्व मानता है। इस के विपरीत वेदान्ती व्यवहार में जैन के तर्क सहमत होते हुए भी परमार्थ में जैन के तर्क से सहमत नही है। उसका कहना है कि जैन के अनुभव में जो सापेक्षता की दृष्टि से विरुद्ध धर्मों का युगपद् एक में रहना सिद्ध हो रहा है उसी के आधार पर हम भी संसार में व्यवहार करते हैं। अत: वयवहार में अनेकान्त को स्वीकार किया जा सकता है इसीलिए हम माया को सदसदनिर्वचनीय मानते हैं। इसमें जैन की सप्तभङ्ग समाविष्ट हैं। माया प्रतीति में आती है अत: वह सद् है किन्तु वह विलीन हो जाती है, इसलिये माा अनिर्वचनीय है। 'तदेव मायाया मायात्वं यत्तर्कासहिष्णुत्वम्'। तर्क की कसौटी पर माया को नहीं कसा जा सकता क्योंकि तर्क की माँग है कि माया तो तो सत् हो या असत् किन्तु यह दोनों है अत: इसे तर्क की कसौटी पर नहीं कस सकते। जैन का कहना है कि वेदान्ती जिसे असत् कह रहा है वह तो परिवर्तन अर्थात् उत्पाद-वयय है और जिसे वह सत् कह रहा है वह ध्रुवता है। उत्पाद-व्यय और ध्रुवता तो सदा ही साथ साथ रहते हं। यही सत् का लक्षण है- उत्पादव्ययध्रौव्यं सत्। हो यह रहा है कि वेदान्ती सत् का लक्षण पहले निर्धारित कर लेता है कि सत् वह है जो सर्वथा ध्रुव हो और फिर जगत् को मिथ्या घोषित कर देता है।

सत्य की तरतमता

४. डॉक्टर डी.एस. काठारी सत्य और मिथ्या की सापेक्षता परक एक दूसरी व्याख्या करते हैं। जब तक जल जल रूप में है तब तक जल सत्य है। किन्तु जैसे ही जल ऑक्सिजन और हाईड्रोजन में बदल जाता है वह मिथ्या हो जाता है। और ऑक्सिजन तथा हाईड्रोजन सत्य हो जाते हं। किन्तु जैसे ही ऑक्सिजन तथा हाईड्रोजन क्वान्टम अर्थात ऊर्जा में बदलते हैं वैसे ही क्वान्अम सत्य हो जाता है तथा ऑक्सिजन और हाईड्रोजन मिथ्या हो जाते हैं। इस प्रकार हम एक सत्य से दूसरे

सत्य की ओर चलते हैं न कि असत्य से सत्य की ओर। पण्डित मधुसूदन ओझा इसे दूसरी दृष्टि से इस प्रकार कहते हैं कि मिथ्या में सत्य और असत्य का मिथुनी भाव रहता है। मिथ्या अलीक का नाम नहीं है अपितु सत्यासत्य के मिथुनी भाव का नाम है आचार्य शङ्कर भी 'सत्यानृते मिथुनी कृत्य जगत्प्रवर्तते' कह कर जगत् के मिथ्यात्व की ऐसी ही व्याख्या कर रहे प्रतीत होते हैं।

सत् का लक्षण

५. वेदान्ती के विपरीत जैन जगत् को सत्य पहले मान लेता है और क्योंकि जगत् उत्पाद-व्यय-ध्रुवात्मक है अतः वह सत् का लक्षण भी उत्पाद-व्यय-ध्रुवात्मकता कर देता है। अभिप्राय यह हुआ कि सत् के लक्षण के सम्बन्ध में मतभेद होने के कारण यह मतभेद हो जाता है कि दृश्यमान जगत् सत् है या नहीं।

जिन दर्शनों ने भी जगत् को सत्य माना उन्हें एक न एक रूप में अनेकान्त को मानना ही पड़ा क्यों कि जगत् है ही त्रयात्मका ऐसे दर्शनों में सभी वस्तुवादी दर्शन शामिल हैं। यथा पूर्वमीमांसा, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक तथा चार्वा कभी। जिन्होंने जगत् को वास्तविक नहीं माना उनके लिये जगत् का त्रयात्मक होना कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता क्योंकि उनकी दृष्टि में जगत् वास्तविक है ही नहीं। फिर भी जो प्रतीति में आ रहा है उसका सर्वथा अपलाप नहीं किया जा सकता। अतः प्रत्यय वादियों ने भी व्यवहार में तो अनेकान्त को स्थान दे ही दिया।

वेदान्त का अनेकान्त

६. अद्वैतवादियों ने अद्वैत की भी एक सीमा बाँधी -- भावाद्वैतं सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कर्हिचित्। क्रिया में अद्वैत नहीं है। द्वैतवादियों ने अद्वैतवाद पर जितने आरोप लगाये वे ये मान कर लगाये कि अद्वैतवादी व्यवहार में भी अद्वैत का अनुमोदन करेगा (तुलनीय-आप्रमीमांसा,४) पुण्यपापक्रियान स्यात प्रेत्यभावः फले कुतः बन्धमोक्षौ च तेषां न येषां त्वं नासि नायकः। वस्तु स्थिति यह है कि आचार के क्षेत्र में जिस प्रकार जैन अहिंसा, संयम, और तप की बात करता है अद्वैतवादी भी उसी प्रकार 'इहामुत्रार्थझोगविराग' और 'शमदमादि शट्सम्पत्' की बात करता है। कारण यह है कि क्रिया अर्थात् व्यवहार में तो अद्वैतवादी भी द्वैतका पालन करता है, दूसरे शब्दों में वह भी व्यवहार की अपेक्षा से अनेकान्ती ही है। रहा प्रश्न परमार्थ का, सो अद्वैतवादी के लिये श्रुति का 'एकत्मनपश्यतः' वचन प्रमाण है, वहाँ परमार्थ में वह एकान्त का ही समर्थन करता है। इस प्रकार वेदान्ती के अनेकान्त का अनेकान्त यह बनेगा कि—

व्यवहार की अपेक्षा अनेकान्त है
परमार्थ की अपेक्षा अनेकान्त नहीं है।

'अनेकान्त' को 'अनेकान्तवाद' न बनायें तो उपर्युक्त वक्तव्य सापेक्ष होने के कारण अनेकान्त की सीमा में आ सकते हैं। किन्तु अनेकान्तवादी जैन को अनेकान्त में ऐसी सापेक्षता स्वीकार नहीं है। ठीक भी है, यदि जैन भी ऐसा अनेकान्त स्वीकार कर लेगा तो उसका स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं रहेगा।

समयसारकलश

७. ऐसा नहीं है कि जैन मनीषियों ने वेदान्ती की इस स्थिति को न समझा हो। समयसार कलश का एक श्लोक है–

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं
क्वचिदपि च न विद्यो याति निक्षेपचक्रम्
किमधिकमभिदध्मो धाम्नि सर्वङ्कषेऽस्मि–
–न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव

कठिनाई यह हुई कि जैसे ही जैन मनीषी ने अद्वैत की स्थिति समझनी चाही, उसे भी द्वैत का भा नही होना बन्द हो गया– भातिन द्वैतमेव।

प्रमाणातीत

८. 'असमेति प्रमाणम्' जब प्रमाण अस्त होता है तो दो सम्भावनायें रहती हैं–– या तो हम अप्रामाणिक हो जाते हैं Illogical हो जाते हैं या प्रमाणातीत हो जाते हैं– Super logical हो जाते हैं। आगम प्रमाण अनुमान–प्रमाण के अधीन नहीं है कि आगम की हर बात अनुमान या तर्क द्वारा सिद्ध की जाये। आगम एक स्वतन्त्र प्रमाण है जिसका आधार पारमार्थिक प्रत्यक्ष है जिसे वैदिक परम्परा 'साक्षात्कार' शब्द से कहती है। पारमार्थिक प्रत्यक्ष इन्द्रियातीत है जब कि अनुमान का आधार इन्द्रियों द्वारा किये जाने वाले 'भूयोदर्शन' के बल पर प्राप्त व्याप्ति का ज्ञान है। दोनों का भिन्न क्षेत्र है। प्रमाण व्यवस्था यह होगी कि पारमार्थिक प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त ज्ञान को बतलाने वाला आगम सदा निर्दोष रहेगा जब कि इन्द्रियजन्य ज्ञान पर टिकने वाला अनुमान सदा हेत्वाभास की शङ्का से ग्रस्त रहता है। अतः अनुमान या तर्क के आधार पर आगम की साधुता–असाधुता का निर्णय नहीं हो सकता।

आगम प्रमाण्

९. आगम तो श्रद्धा का ही विषय रहेगा। अतः तत्त्वार्थ सूत्र में ज्ञान से भी पहले श्रद्धा को रखा है- **सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।** जैन शास्त्रों का घोष है- स्वभावोऽतर्कगोचरः। हम तर्क से यह सिद्ध नही कर सकते कि अग्नि उष्ण है। यह तो अनुभव गोचर ही है। अतः आचारांग सूत्र ने कहा- तक्कातत्थन, विज्जइ, मई तत्थन गाहिया, सव्वे स्वराः णिवट्टन्ति। उपनिषदों ने कहा- **नैषाभतिस्तर्केणापनेया।**

निष्कर्ष यह हुआ कि जैन मनीषियों ने सभी भावों को सापेक्ष माना-

एकोभावः सर्वथा येन ज्ञातः सर्वेभावाः सर्वथा तेन ज्ञाताः

सर्वेभावाः सर्वथा येनज्ञाताः एकोभावः सर्वथा तेन ज्ञाताः

इसका आधार केवलियों की वाणी है- **जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ।** इस वाणी पर जिसकी श्रद्धा है वह सभी सत्यों को सापेक्ष मानता है और उनेकान्त का यही अर्थ समझता है किसी भी सत्य का आधार अनुभव ही है। क्योंकि अनुभव में सर्वत्र सापेक्षता आती है अतः निरपेक्ष सत्य कुछ भी नहीं है।

इस स्थान पर यह आपत्ति आयी कि फिर तो सापेक्षता के सर्वतोग्राही होने से स्वयं ही निरपेक्ष हो गयी। आचार्य महाप्रज्ञ ने इसका यह उत्तर दिया कि पञ्चास्तिकायों का अस्तित्व निरपेक्ष है। अतः अनेकान्त भी अनेकानतात्मक होगा न कि एकानतात्मक।

इसके विपरीत वेदान्ती के लिये 'नेहनानास्ति किञ्चन' की श्रुति प्रमाण है अतः वह अनेकता पर आधृत अनेकान्तवाद को प्रमाण नहीं मानता प्रत्युत दृश्यमान अनेकता को द्वितीय श्रेणी का अर्थात् व्यावहारिक सत्य मानता है और वहाँ अनेकान्त की सत्ता को स्वीकार भी करता है।

हमारा निष्कर्ष यह है कि जैन और वेदान्ती के मतभेद में कारण श्रद्धा है, आगम पर विश्वास है, उसमें साधुता-असाधुता का निर्णय तर्क के आधार पर नहीं किया जा सकता।

इस निष्कर्ष की पुष्टि में हम दिगम्बर -श्वेताम्बर के पारस्परिक मतभेद का प्रश्न लें । दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही अनेकान्तवादी है। फिर ये दोनों अपना मतभेद अनेकान्तवाद की सापेक्षता के आधार पर मिटा क्यों नही लेते। उत्तर यह है कि इन दोनें के आगम ही भिन्न भिन्न हैं। वे आगम उनकी श्रद्धा का विषय हैं। दोनों अपनी अपनी श्रद्धा के अनुकूल अचेलकत्व-सचेलकत्व के पक्ष में तर्क खोज लेंगे किन्तु किसका तर्क ठीक है, यह निर्णय कभी नहीं हो सकेगा क्योंकि यह

मतभेद तर्क पर नहीं, श्रद्धा पर टिका है। दोनों को अपने अपने तर्क ठीक नजर आते हैं क्योंकि तर्क तो एक निमित्त है, असली कारण श्रद्धा है। मतभेद तर्क के कारण नहीं, श्रद्धा के कारण है। सभी पक्ष अपनी अपनी श्रद्धा के अनुसार तर्क खोज लेते हैं।

तर्क की पकड़ से परे

१०. सन् २०१० में एक विचित्र परीक्षण हुआ। बेटेलियम नाम की धातु के एक कण के बारे में यह पाया यगा कि वह कण युगपद् ऊपर-नीचे अथवा दाँयें-बाँयें गति कर सकता है। एक ही कण एक ही समय में एक साथ दो विपरीत दिशाओं में गति करे-- यह स्थिति तर्क की पकड़ से परे की है। जब यह स्थिति मैंने कुछ चिन्तकों के सामने रखी तो उन्होंने कुल मिलाकर यही कहा कि ऐसा नहीं हो सकता; वैज्ञानिकों को धोका हुआ है। किन्तु वैज्ञानिकों का स्पष्ट और दृढ़ मत है कि ऐसा ही है। यह अटपटी (Bizzare) स्थिति वास्तविक है, दृष्टि का भ्रम नहीं है। यह स्थिति जैन आचार्यों के भी सामने नहीं आयी थी। अब तक हम प्रकृति से परे को ही अचिन्त्य मान रहे थे-

अचिन्त्याः खलुयेभावा न ताँस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्।।

अब स्थिति यह कि प्रकृति भी अचिन्त्य हो गयी है। यह अनेकान्तवाद भले न हो, अनेकान्त तो है ही कि एक कण में युगपद् दो परस्पर विरुद्ध गतियाँ देखने में आ रही हैं। यह अनेकान्त का एक नया ही आयाम सामने आया है जिस पर न जैन, न वेदान्ती और न बौद्ध चिन्तकों ने विचार किया है।

११. वेद के नासदीय सुक्त के सामने अवश्य कुछ ऐसा रहा होगा जिसके लिये ऋषि को कहना पड़ा कि पता नहीं परमात्मा को भी सृष्टि की उत्पत्ति का रहस्य विदित है या नहीं है-

योऽस्या अध्यक्षः परमेव्योमन्
सोअङ्ग वेदयदिवान वेद

१२. हमने अन्यत्र जैनेतर भारतीय दर्शनों में अनेकान्त के बीज खोजे हैं। उन सबने अनेकान्त को स्वीकार किया है किन्तु भेद और अभेद के बीच वैशेषिक दोनों को मानकर भी भेद को मुख्य मानता है। जबकिक सांख्य दोनों में अभेद को मुख्य मानता है। जैने भेद-अभेद दोनों को समान महत्त्व देता है। डॉ वाई-जे. पद्यरज्जैयाने अपने ग्रन्थ Jaina Thoeries of Reality and Knowledge में इस विषय पर विस्तार से प्रामाणिक रूप में विचार किया है।

हमारा विष्कर्ष यह है कि जैन सम्मत अनेकान्त तो एकवाद के रूप में हमारे सामने है जा केवल जैन दर्शन तक ही सीमित है किन्तु वाद-मुक्त अनेकान्त बहुत व्यापक है। वैदिक परम्परा में भी **असच्चसच्च परमे व्योमन् (ऋग्वेद १०.५.७), उभयं वा एतत्प्रजापतिर्निरु क्तञ्च। निरु क्तं परिमितमिनिरु क्तमपरिमितम् (शतपथब्राह्मण ६.५.३.७) तथा तस्य ह प्रजापतेरर्धमेव मर्त्यमासीद र्धममृतम् (शतपथब्राह्मण १०.१.३.२)** आदि वाक्य स्पष्टतः अनेकान्त का प्रतिपादन कर रहे हैं। दार्शनिक युग में पूर्वमीमांसको ने अनेकान्त का न केवल प्रतिपादन किया प्रत्युत नामतः भी अनेकान्त का स्मरण किया। मीमांसा श्लोकवार्तिक (वनवाद, २१.२२.२३) का निम्न श्लोक देखें-

वर्धमानकभङ्गे च रुचकः क्रियते तदा
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चात्युत्तटार्थिनः
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्

तुलनीय है शास्त्रवार्ता समुच्च(७.४७८)

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिस्वयम्।
शोक प्रमोद माध्यस्थ्यं जनायाति सहेतुकम्।।

इतना ही नहीं, अनेकान्त संशयवाद है इसका भी निराकरण पूर्व मीमांसा ने सबल शब्दों में किया-

वस्त्वनेकत्ववादाच्च कश्नसन्दिग्धा प्रमाणता
ज्ञानं सन्दिह्यते यत्र तत्रनस्यात् प्रमाणता
इहानेकान्तिकं वस्तु इत्येवंज्ञानं सुनिश्चितम्

-मीमांसाश्लोकवार्तिक, वनवाद ७५-७९

वेद भाष्यकार सायणाचार्य ने यह प्रश्न अपनी भाष्य भूमिका में बहुत विस्तार से उठाया है कि वेद में परस्पर विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक वाक्यों में सामञ्जस्य स्थापित करना भाष्यकार का दायित्व है। कहीं एक एव रु द्रः (तैत्तिरीय संहिता १.८.६.१२) कह दिया गया है तो कहीं **असंख्याता सहस्त्राणि ये रु द्रा अधिभूम्याम्** (यजुर्वेद वाजसनेयी संहिता, १६.५४) कहा गया है। यह प्रश्न यास्काचार्य ने निरुक्त में भी उठाया और जैमिनी ने भी उठाया।

संक्षेप में हम महर्षि अरविन्द के शब्दों में कह सकते हैं कि 'जीवन की सभी समस्याएं तत्त्वतः सामञ्जस्य की समस्याएं हैं' (दिव्य जीवन, पृ.४) जैन आचार्यों ने इस सामञ्जस्य को स्थापित करने का प्रयत्न अनेकान्तवाद के माध्यम से किया किन्तु यह प्रयत्न अन्य दर्शनों में भी अनेकान्त के माध्यम से किया गया। यही

अनेकान्त की व्यापकता है। इस लेख में हमने अपने को भारतीय दर्शनों तक सीमित रखा है किन्तु यदि अन्य दर्शनों में भी देखें तो अनेकान्त के बीज मिलेंगे।

तुलनीय

१. महाभाष्य, पस्पशाह्निक पृ. ८४-८५
२. योगसूत्र, व्यासभाष्य पृ. १३
३. वात्स्यायन, न्यायसूत्र, १.१.४.१
४. शाङ्करभाष्य, तैत्तिरीयोपनिषद्, २.६.३
५. शास्त्रदीपिका, पृ. ४३,१०१

अनेकान्तवाद और भारतीय दर्शन

भारतीय चिन्तन दो प्रकार के अतिक्रमणों की चर्चा करता है। हमें पाप से पुण्य की ओर जाना है, किन्तु यह अन्तिम लक्ष्य नहीं है। अन्तिम लक्ष्य है पाप और पुण्य दोनों का अतिक्रमण कर जाना, पाप-पुण्यातीत हो जाना। यह पहला अतिक्रमण है। इसी प्रकार हमें तर्क विरुद्ध से तर्क संगतता की ओर जाना है, किन्तु यह भी अन्तिम लक्ष्य नहीं है। अन्तिम लक्ष्य है तर्क का अतिक्रमण करना, तर्कातीत हो जाना, यह दूसरा अतिक्रमण है। पाप पुण्यातीत होने का अर्थ पाप में लिप्त होना कदापि नहीं है। इसी प्रकार तर्कातीत होने का अर्थ तर्कविरुद्ध होना नहीं है। भारतीय रहस्यवाद तर्क की अन्तिम परिणति है। वह तर्क विरोधी नहीं है। यह स्थिति प्राय: सभी भारतीय दर्शनों में स्वीकार की गई है और जैन दर्शन भी इसका अपवाद नहीं। आचार के क्षेत्र में तो सभी भारतीय दर्शन मोक्ष को पाप पुण्यातीत मानते हैं। किन्तु तर्क के क्षेत्र में भारतीय दर्शन प्रत्ययवादी और वस्तुवादी नामक दो भागों में विभक्त हो जाते हैं। शांकर वेदान्त और बौद्धदर्शन प्रत्ययवादी हैं। न्याय मीमांसा सांख्य और जैन दर्शन वस्तुवादी हैं।

प्रत्ययवादी और वस्तुवादी में भेद का आधार यह है कि प्रत्ययवादी कुछ वक्तव्यों को अनुभव-निरपेक्ष स्वत: सिद्ध सत्य मानते हैं। उनके अनुसार घट है और घट नहीं है। ये दोनों वाक्य एक साथ सत्य नहीं हो सकते क्योंकि ये एक-दूसरे के विरोधी है।

वस्तुवादी प्रत्येक वक्तव्य की सत्यता को अनुभव-सापेक्ष मानता है। उसका कहना है कि घट यदि एक द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव में नहीं है तो इस अनुभव के आधार पर हम कह सकते है कि एक अपेक्षा से घट हैं भी और दूसरी अपेक्षा से घट नहीं भी है। जैन दर्शन की यही मान्यता है। प्रत्ययवादी का इसके विरोध में कहना है कि यदि कोई अनुभव स्वत: सिद्ध तर्क के विरोध में जाता है तो उस अनुभव का ही अपलाप करना चाहिए, न कि स्वत: सिद्ध तर्क का। फ लत: प्रत्ययवादी समस्त ऐन्द्रिक अनुभवों को भ्रम अथवा मन की कल्पना मानता है, वास्तविक नहीं।

जैन दर्शन अनुभव को प्रमाण मानने के कारण सभी सत्यों को अनुभव-सापेक्ष मानता है और क्योंकि अनुभव में सापेक्षता दृष्टिगोचर होती है अत: वह सभी सत्यों को सापेक्ष मानता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि जैन दर्शन निरपेक्षता को मानता ही नहीं है। वस्तु का स्वभाव निरपेक्ष होता है। स्वभाव में तर्क नहीं किया जा

सकता-स्वभावोऽतर्कगोचरः। आत्म के शुद्ध रूप में भी बुद्धि का प्रवेश नहीं है- **मई तत्य न गाहिया, तक्कोतत्थनविज्जइ**। इस प्रकार जैन की सापेक्षता भी सापेक्ष है। दूसरी ओर प्रत्ययवादी को भी व्यवहार में अनुभव की प्रामाणिकता माननी ही पड़ती है। जैन के इस वक्तव्य से कि अनेकान्त के बिना व्यवहार नहीं चल सकता, प्रत्ययवादी सर्वथा सहमत है। उसका मतभेद परमार्थ को लकर है। परमार्थ तो देशकालातीत होने से प्रमाणातीत ही है। इस समस्या का एक अन्य समाधान भी प्रतीत होती है। सांख्या का कहना है कि प्रकृति में कारण-कार्य संबंध रहता है अतः प्रकृति तो सापेक्ष एवं तर्क-गम्य है, किन्तु आत्मा कारण-कार्य श्रंखला से सर्वथा मुक्त होने के कारण प्रमाणातीत है-

अचिन्त्या खलु ये भावा न ताँस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्।।

दर्शनों में थोड़ा बहुत तो अन्तर रहता ही है, अन्यथा किसी दर्शन का स्वतंत्र अस्तित्व रहेगा ही नहीं किन्तु जैनधर्म के अनेकान्तवाद अथवा सापेक्षतावाद के संबंध में जितना दर्शनान्तरों से मतभेद बढा-चढ़ा कर दिखाया जाता है, उतना मतभेद है नहीं।

जन भी प्रकारान्तर से तर्क की एक सीमा मानकर परमार्थ को प्रमाणातीत कहते हुए अनेकान्तवाद की सीमा को पूर्णतः स्वीकार करता है। सांख्य प्रकृति के क्षेत्र में अनेकान्तवाद को मानते हुए भी, पुरुष को कारण-कार्य-परम्परा से मुक्त मानता है। इस प्रकार जैन का अनेकान्तवाद पूरे भारतीय चिन्तन में ओत-प्रोत है। प्राक्महावीर काल में तो ब्राह्मण-ग्रंथों ने मृत्यु-अमृतत्व का अन्योऽन्यान्तरी भाव कहकर ध्रौव्य और परिवर्तन की सहवर्तिता घोषित की ही है।

भेद में अभेद

–प्रोफेसर दयानन्द भार्गव

नित्यं सत् कथयन्ति ये श्रुतिपरा वेदान्तपराङ्गता: सर्वं सत् क्षणिकं वदन्ति सुगता नित्यत्वविस्फ ोटका: नित्यानित्यसमन्वितं सदिति निर्ग्रन्था अनेकान्तिन: एवं भिन्नमतेषु सत्सु भवतात्तेषां कथं मित्रता? अज्ञानं भवकारणं निगदितं वेदान्तसिद्धान्तत: तृष्णा बुद्धमते विषादजननी हेया हिताकार्ाि: रागो जैनमते प्रधानकरणं बन्धस्य दु:खस्यवा तेणां भिन्नमतेऽपि मोक्षसरणिर्नो भिद्यते मूलत:।। मिथ्याहक् लभते स्वसंयमफ लं भिक्षोर्मते निर्मले चारित्रं तुलसीमतेऽनुसरताञ्जैनोऽप्यजैनोऽपिवा प्रेक्षाध्यानपरायण: कमपि वा पन्थानमालिङ्गतात् भेदेऽभेदपरम्परा विजयते सर्वोदयाकार्णिी।।

विचार के तीन सिद्धान्त

१.० अनेकान्तवाद सर्वसम्मत नहीं है। जहाँ जैन और मीमांसक अनेकान्त का समर्थन करते रहे हैं, वहाँ बौद्ध तथा वेदान्ती अनेकान्त का निरसन भी करते रहे हैं। इस विवाद का मूल इस तथ्य में निहित है कि हम विचारों के निम्न तीन सिद्धान्तों की प्रामाणिकता अनुभवातीत तर्क (a priori logic) के आधार पर मानते हैं या नही:– (i) तादात्म्य का सिद्धान्त–'आ' 'आ' है। (ii) विरोध का सिद्धान्त– 'आ', 'ब' तथा 'अ–ब', दोनों हो सकता। (ii) मध्यपद निरसन का सिद्धान्त– 'आ' या तो है, या नहीं है।

१. 'गुलाबी रंग लाल रंग की अपेक्षा हल्का है'– इस वक्तव्य की प्रामाणिकता अनुभवातीत तर्क (a priori logic) पर टिकी है क्योंकि 'गुलाबी' पद का अर्थ ही 'हल्का लाल' है। दूसरी और 'मोहन सोहन से लम्बा है'– इस वक्तव्य की प्रामाणिकता अनुभव–सापेक्ष तर्क (a priori logic) पर टिकी है अर्थात् मोहन या सोहन को देख कर ही यह कहा जा सकता है कि मोहन सोहन से लम्बा है या नहीं क्योंकि 'मोहन' पद में कोई ऐसा अर्थ नहीं छिपा है कि हम स्वत: ही यह मान लें कि मोहन को सोहन से लम्बा होना ही चाहिये। मोहन सोहन से लम्बा भी हो सकता है और छोटा भी – देखने पर पता चलेगा कि सत्य क्या है। किन्तु गुलाबी रंग को लाल रंग की अपेक्षा हल्का ही होना चाहिये– यह स्वत: सिद्ध जैसा है। प्रश्न है कि विचार के तीन सिद्धान्तों की प्रामाणिकता अनुभव–सापेक्ष है या वे स्वत: सिद्ध है?

२. Mookerjee, Dr Satkari, The Jaina philosophy of Non- absolutism, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ.7 विस्तार के लिये इसी ग्रन्थ का प्रथम अध्याय देखिये।

अनुभवातीत तर्क का स्थान

१.१ बौद्ध तथा वेदान्ती विचार के उपर्युक्त तीन सिद्धान्तों की प्रामाणिकता अनुभवातीत तर्क के आधार पर मानकर इन सिद्धान्तों के विरुद्ध यदि अनुभव होता हो तो उसे प्रामाणिक नहीं मानते।

दूसरी और अनेकान्तवादी जैन अनुभव को परमप्रमाण मानकर किसी अनुभवातीत तर्क के आधार पर अनुभव का अपलाप करने को तैयार नहीं हैं।

१.२ अनेकान्तवादी तथा बौद्ध एवं वेदान्ती भी इस विषय में सहमत हैं कि नित्यता तथा अनित्यता जैसे परस्पर विरोधी धर्म किसी वस्तु में युगपद् अनुभव में आते हैं। अनेकान्ती इसी आधार पर वस्तु में परस्पर विरोधी धर्मों के सहास्तित्व को स्वीकार कर लेता है।

१.३ किन्तु बौद्ध तथा वेदान्ती उपर्युक्त विचारों के सिद्धान्तों को अनुभवातीत तर्क के आधार पर सत्य मानता है। अत: वह नित्यता तथा अनित्यता जैसे विरोधी धर्मों का सहास्तित्व स्वीकार नहीं कर सकता। फ लत: बौद्ध नित्यता को नकार कर एकान्त अनित्यता को और वेदान्ती अनित्यता को नकार कर एकान्त नित्यता को ही सत् मानता है। बौद्ध के लिये नित्यता तथा वेदान्ती के लिये अनित्यता हमारी मानसिक कल्पना है, न कि वस्तु का स्वभाव।

वस्तुस्वभाव: मतभेद

२.० प्रश्न है कि वस्तुस्वभाव अथवा सत् के स्वरूप के सम्बन्ध में उपर्युक्त मतभेद का हेतु क्या है। क्या विभिन्न सम्प्रदाय अपनी अपनी मान्यता पर विचार द्वारा पहुँचे हैं अथवा यह उनकी श्रद्धा का विषय है ?

२.१ भारतीय परम्परा के अनुसार सत्य का दर्शन ऋषियों को समाधि की स्थिति में साक्षात्कार के रूप में होता है। उपनिषदों के ऋषि ने या भगवान् महावीर अथवा भगवान् बुद्ध ने सत्य का साक्षात्कार किया, न कि किसी तर्कणा के द्वारा उस सत्य को जाना। अत: उनके अनुयायिओं के लिये सत्य, जो कि श्रुति अथवा आगम में वर्णित है, श्रद्धा का विषय है और वह श्रुति अथवा आगम उन के लिये सर्वोपरि प्रमाण है।

२.२ श्रुति अथवा आगम के परम प्रमाण होने पर भी आचार्यों ने अपने अपने प्रस्थान के स्वत: प्रमाण शास्त्र के मत को तर्क से सिद्ध करने का प्रयास किया है। इस प्रकार स्वत: प्रमाण शास्त्र में प्रतिपादित मत के समर्थन में तर्क जुटाना आचार्यों का दायित्व रहा है।

२.३ श्रुति अथवा आगम पहले हैं, तदनुकूल दार्शनिक साहित्य बाद में है। सत् का स्वरूप श्रुति अथवा आगम में पूर्व में ही प्रतिपादित है। उस सत् के स्वरूपानुकूल तर्क तो आचार्यों ने बाद में जुटाये।

२.४ उपनिषदों ने द्वैत का निषेध किया तो शङ्कराचार्य ने अद्वैत के पक्ष में तर्क प्रस्तुत कर दिये। बुद्ध ने क्षणभङ्गरता का प्रतिपादन किया तो बौद्ध तार्किकों ने उसके समर्थन में तर्क जुटाये। महावीर ने सत् को नित्यानित्य बताया तो जैन तार्किकों ने तदनुकूल तर्क जुटाते हुए अनेकान्त का प्रतिपादन कर दिया।

२.५ अत: डॉ मुकर्जी ने कहा, ''दार्शनिकों के बीच का मतभेद उस श्रद्धा का विषय है जो तर्क से अधिक गहरी है, यद्यपि अपने अपने मत का प्रतिपादन उन दार्शनिकों ने तर्क के सहारे ही किया है।''

वस्तुवाद एवं प्रत्ययवाद: भेद का विषय

३.० ऐसी स्थिति में तर्क के आधार पर वस्तुवादी जैन तथा प्रत्ययवादी बौद्ध एवं वेदान्ती के बीच कोई सहमति स्थापित नहीं की जा सकती । तत्त्वज्ञान के सम्बन्ध में हमें मतभेद को ही स्वीकार करना होगा। वस्तुवादी ऐन्द्रिक अनुभव को प्रमाण मानकर वस्तु में विरोधी धर्मों के सहास्तित्व को स्वीकार करेगा जबकि प्रत्ययवादी उपर्युक्त विचारों के सिद्धान्तों को अनुभवातीत -तर्क - सिद्ध मान कर विरोधी धर्मों के सहास्तित्व की सम्भावना को नकारेगा—पूर्वोद्धृत ग्रन्थ पृ. २० एवं १६५ ।

दोनों मत अपनी अपनी जगह ठीक हैं

४.० उपर्युक्त दोनों मतों के बीच सत्यासत्य का निर्णय करना सम्भव नहीं है। मध्ययुग के आचार्य स्वमत के समर्थन के साथ-साथ परमत का खण्डन भी करते रहे हैं। एक उदाहरण द्वारा यह दिखाना अनुचित न होगा कि उनका यह प्रयास बहुत सार्थक नहीं है।

४.१ आप्रमीमांसा से लेकर जैन आचार्य यह कहते रहे हैं कि बिना अनेकान्त को माने पाप-पुण्य, बन्ध-मोक्ष तथा सुख-दु:ख की व्यवस्था नहीं बनेगी— **पुण्यपापक्रिया न स्यात्प्रेत्यभाव: फले कुत:। बन्धमोक्षौ च तेषां न येषां त्वं नासि नायक:।।** -आप्रमीमांसा, शोलापुर, शकसंवत १८२६, श्लोक ४, अपिच-युत्रयनुशासन, सहारनपुर, १९५१, श्लोक १५,१६ए स्याद्वादमञ्जरी, बम्बई, १९३५, श्लोक ३५ ।उन्होंने इस सत्य की उपेक्षा कर दी कि अनेकान्त को न मानने वाले भी व्यवहार में अनेकान्त को ही स्वीकार करते रहे हैं, व्यवहार में अद्वैत नहीं चल सकता -भावाद्वैतं सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कर्हिचित्। ऐसी स्थिति में अनेकान्त को

न मानने वालों ने भी पाप-पुण्यादि की व्यवस्था सुचारु रूप में की है। इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिये।

४.२ इसी प्रकार अनेकान्त के विरूद्ध यह आरोप लगाया गया कि वह संशय का जन्म देता है— **भेदाभेदात्मकत्वे च वस्तुनो विविक्तेनाकारेण निश्चेतुमशक्तः संशयः**- प्रमाण मीमांसा, सम्पा. पण्डित सुखलाल संघनी, अहमदाबाद, १९८९, पृ. २८ । यह आरोप लगाते समय यह ध्यान नहीं रखा गया कि जैन आचार्यों ने संशय और अनेकान्त में स्पष्ट भेद करते हुए यह कहा कि जहाँ वस्तुतः दो धर्मों का सद्भाव नहीं है वहाँ दो धर्मों का मानना संशय है न कि

उस स्थान पर जहाँ वस्तुतः दो धर्मों का सद्भाव है— **प्रमाणमीमांसा १.१.५ (पृ.५) अनुमयत्रोभय कोटिस्पर्शो प्रत्ययः संशयः। -अनुभयस्वभावे वस्तुनि उभयान्तपरिमर्शशीलं ज्ञानं सर्वात्मा शेत इवात्मा पस्मिन् सति स संशय। यथान्धकारे दूरादूर्ध्वाकारवस्तूपलम्भात् साधकबाधकप्रमाणाभावे सति 'स्थाणुर्वा पुरु षो वां' इति प्रत्ययः। अनुभयग्रहणमुभयरु पे वस्तुन्युभयकोटिस्पर्शेऽपि संशयत्वनिराकरणार्थं, यथा 'अस्ति च नस्ति च घटः', 'नित्यश्चानित्यश्चात्मा' इत्यादि।** जहाँ दो विरोधी धर्म वस्तुतः हैं, वहाँ उनका उल्लेख संशय नहीं, अनेकान्त है।

४.३ अतः अनेकान्तवादी तर्क तथा बौद्ध एवं वेदान्ती का अनेकान्त-विरोधी तर्क- दोनों ही अपनी-अपनी जगह ठीक हैं। यदि हम निष्पक्ष भाव रखें तो हमें दोनों की परिपूर्णता दृष्टिगोचर होगी। यदि हमारी श्रद्धा जैनागमों में है तो हमें अनेकान्तवाद समीचीन प्रतीत होगा। यदि हमारी श्रद्धा बुद्ध-वचन अथवा श्रुति में है तो हमें अनेकान्त दोष-पूर्ण नजर आयेगा।

भेद को स्वीकार करें: पर अभेद को न भूलें

५.० ऐसी स्थिति में इ न दो विरोधी प्रस्थानों के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करने के स्थान पर भेद को स्वीकार कर लेना चाहिये। किन्तु साथ ही यह तथ्य भी आँखों से ओझल नहीं होने देना चाहिये कि इस भेद के बीच भी एक ऐसा अभेद है जो भेद की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस अभेद पर भी विचार करना चाहिये।

५.१ जैन, बौद्ध अथवा वेदान्ती-सभी जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष को मानते हैं। मोक्ष का निषेधपरक अर्थ है- दुःख से मुक्ति और विधेयपरक अर्थ है- सत्य का साक्षात्कार। इस विषय में सभी एकमत हैं।

५.२ मोक्ष के लक्ष्य की प्रापित हेतु जो साधना का मार्ग है उसके दा पक्ष हैं- व्यावहारिक तथा पारमार्थिक । व्यावहारिक पक्ष के अन्तर्गत नैतिकता आती है तथा पारमार्थिक पक्ष में योगमार्ग के ध्यान, धारणा तथा समाधि आते हैं।

५.३ अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य तथा अपरिग्रह जैसे जैन-सम्मत हैं वैसे ही योग-सम्मत हैं- यह कहने की आवश्यकता नहीं है। ये पञ्चशील नाम से बौद्ध-सम्मत भी हैं, वहाँ केवल अपरिग्रह के स्थान पर मादक वस्तुओं के सेवन का त्याग समाविष्ट किया गया है। शुचिता, सन्तोष, तपः, स्वाध्याय—(योगसूत्र, गोरखपुर, विक्रम सम्वत् २०१३, २.३२), श्रद्धा, प्राणि-मात्र का कल्याण, अक्रोध, आहार-शुद्धि, उपासना, उपवास तथा अप्रमाद—(प्रशस्तपादभाष्य, बनारस, १९२४, पृ. ६४०) आदि नैतिक/आध्यात्मिक गुणों का सर्वत्र उपदेश है। इन गुणों के विवरण में यदा कदा भेद होने पर भी मुख्यतः अभेद ही है।

ध्यान का महत्त्वः सर्वसम्मत

५.४ इस विषय में सभी सहमत हैं कि केवल नैतिक आचरण से ही सत्य का दर्शन नहीं हो जाता, न मोक्ष ही मिलता है। उसके लिये अन्तर्दर्शन भी आवश्यक है। अन्र्दर्शन की यह प्रक्रिया ही ध्यान कहलाती है।

कठोपनिषद् कहती हैः जो दुश्चरित्र से विरत नहीं हुआ, अशान्त है, असमाहित है, जिसका मन शान्त नहीं है, वह केवल बुद्धिबल से परमसत्य को प्राप्त नहीं कर सकता—(कठोपनिषद् गीताप्रेस, गोरखपुर, १.२.२.४) धम्मपदका कहना है कि प्रज्ञा और समाधि का समन्वय हो जाने पर मोक्ष दूर नहीं रहता—(धम्मपद, बनारस, १९४६.२५.१३) योगसूत्र में ध्यान को आवागमन से मुक्ति का साधन मानता है—(योगसूत्र, ४.६) न्यायसूत्र ध्यान को ज्ञान-प्राप्ति का साधन मानता है—(न्यायसूत्र, पूना, १९३९, ४.२.३८) ज्ञानार्णन ने ध्यान को कर्मों का नाश करने वाली तलवार कहा है—(ज्ञानार्णव, बम्बई, १९०७, ३१.३)।

५.५ भारतीय चिन्तन का कर्त्तव्य-परायणता के साथ अध्यात्म-साधन का स्वर इतना प्रबल है कि उसके सम्मुख पारस्परिक भेद का स्वर मन्द पड़ जाता है।

दार्शनिक अहापाह का अपना उपयोग है। किन्तु दार्शन का व्यावहारिक रूप तो चरित्रपालन तथा मानसिक शान्ति की उपलब्धि में ही सार्थक बनता है।

तेरापन्थ की परम्पराः सम्प्रदाय-निरपेक्षधर्म एवम् अध्यात्म

६.० जैन परम्परा अनेकान्तवादी है। देखना चाहिये कि उसने भेद में अन्तर्निहित अभेद को भी रेखाङ्कित किया है या नहीं।

६.१ तेरापंथ सम्प्रदाय को लें। इसके संस्थापक आचार्य भिक्षु से लेकर वर्तमान आचार्य महाप्रज्ञ तक सभी आचार्यों ने अनेकान्त का व्यवहार में विपुल प्रयोग किया है।

६.२ आज से २५० वर्ष पूर्व आचार्य भिक्षु ने जो घोषणायें की वे उस समय के लिये बहुत क्रान्तिकारी थीं। उन्होंने कहा, ''चाहे जैन हो या अजैन, यदि उसकी क्रिया निखद्य है तो वह धर्म है और यदि वह क्रिया सावद्य है तो अधर्म है— (भ्रमविध्वंसनम्, मिथ्यात्वी क्रियाधिकार पृ. १-४९ (आचार्य महाप्रज्ञकृत आचार्य भिक्षु (अंग्रेजी अनुवाद), चुरू, १९६८ पृ. ५२ पर उद्धत) ''जो मिथ्यात्वी की भी निखद्य क्रिया का अशुद्ध मानते हैं, उनकी समझ ठीक नहीं है। जो मिथ्यात्वी की निखद्य क्रिया में भी धर्म नहीं मानते वे बहुत बड़ी भ्रान्ति में हैं—(मिथ्यात्वी करणी-निर्णय, १.२९.३० (आचार्य महाप्रज्ञकृत आचार्य भिक्षु (अंग्रेजी अनुवाद), चुरू, १९६८ पृ. ५२ पर उद्धत) करते समय केवल एक आत्मा है, किसी सम्प्रदाय का अनुयायी नहीं।

६.५ आचार्य महाप्रज्ञ ने अहिंसा में विश्वास रखने वाले सभी लोगों को अहिंसा-समवाय का एक मञ्च दिया, जहाँ अहिंसा के सम्बन्ध में सूक्ष्म भेद रखने पर भी मुख्यत: अहिंसा में विश्वास रखने वाले एकत्र समवेत होकर कार्य कर सकें।

निष्कर्ष

१. दार्शनिक प्रस्थानों की तत्तमीमांसीय मान्यताओं के पारस्परिक भेद को मिटाने का प्रयत्न न करके उसकी विविधता के सौन्दर्य को बना रहने देना चाहिये।
२. नैतिकता अध्यात्म के क्षेत्र में व्यापक अभेद का स्वर उपलब्ध होता है।
३. आज भेद की अपेक्षा अभेद के स्वर को मुख्यता देने की आवश्यकता है।
४. नैतिकता तथा अध्यात्म के क्षेत्र में सम्प्रदाय-निरपेक्षता को महत्त्व देकर तेरापंथी आचार्यों ने अनेकान्त की आत्मा को व्यावहारिक रूप प्रदान किया।

ॐ अर्हम्

अहिंसा, सांस्कृतिक मूल्य एवं शान्ति

परमश्रद्धास्पद आचार्य महाप्रज्ञ! उनके शिष्य-प्रशिष्य साधु-साध्वी वृन्द! देश-विदेश से पधारे प्रतिनिधिगण! पण्डाल में उपस्थित साधक-साधिकाओं!

मूल्यों पर चर्चा की सार्थकता

सम्मेलन के दूसरे दिन के इस खुले अधिवेशन में अहिंसा प्रभृति सांस्कृतिक मूल्यों की शान्ति के परिप्रेक्ष्य में चर्चा होनी है। मूल्य साधन है, शान्ति साध्य है। एक ओर चरित्र, आचार एवं मूल्य पर्यायवाची हैं, दूसरी ओर शान्ति, सुख और आनन्द शब्दों का प्रयोग भी पयार्यवाचियों की भांति हुआ है। इन शब्दों की अर्थच्छाया में सूक्ष्म अन्तर है, किन्तु उसमें जाना यहां अभिप्रेत नहीं है। अभिप्रत यह है कि मनुष्य अपने जीवन का कुछ भी लक्ष्य बनाये, किन्तु उस लक्ष्य के पीछे प्रेरणा-स्रोत शान्ति की कामना ही होती है। इसलिये कह सकते है कि शान्ति अथवा आनन्द जीवन का स्वत: सिद्ध परम लक्ष्य है। ऐसा होने पर भी हम अनेक बार ऐसा मार्ग अपना लेते हैं। इसलिए मूल्यों की चर्चा की आवश्यकता होती है। दुर्योधन ने कहा था कि मै जानता हूं कि ठीक क्या है और गलत क्या है फिर भी मैं ठीक का अनुसरण नहीं कर पाता और गलत कर बैठता हूं।-

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च में निवृत्ति:।

दुर्योधन ने तो इस विसंगति का कारण किसी अज्ञात शक्ति को माना है-

केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।।

दुर्योधन का यह विश्लेषण व्यक्ति को असहायता की स्थिति में छोड़ देता है। यह भाग्यवादी का मार्ग है। इसमं मूल्यों की चर्चा करना लगभग अनावश्यक जैसा हो जाता है। किन्तु भगवान् महावीर सहित भारत और भारत के बाहर के सभी महापुरुषों ने ऐसे एकान्तिक भाग्यवाद का समर्थन न करके पुरुषार्थ-पूर्वक अधर्म के आकर्षण को नकारते हुए धर्म के पालन पराक्रम प्रदर्शित करने पर बल दिया है। पुरुषार्थ पर इस बल देने के कारण ही भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध श्रमण कहलाये क्योंकि वे श्रम अर्थात् पुरुषार्थ को ही सिद्धि का साधन मानते हैं। वैदिक परम्परा ने स्पष्ट घोषणा की कि जो श्रमशील नहीं है, देवता भी उसके मित्र नहीं होते-

न ऋते श्रान्तस्य सरव्याय देवा:।

इस दृष्टि से देखे तो पुरुषार्थ सभी मूल्यों के मूल में रहता है। यह भी कहा जा सकता है कि जो मूल्य जितना उदात्त और स्फीत है उस मूल्य के क्रियान्वयन के लिए उतना ही अधिक पुरुषार्थ अपेक्षित है। इसी पुरुषार्थ की एक गौरवमय संज्ञा तप है जिसका गुणगान भारत की सभी परम्पराओं में समान रूप से हुआ है।

मूल्य में तरतमता रहती है। सत्य एक सर्वसम्मत मूल्य है। राजा हरिशचन्द्र ने सत्य का पालन एक कोटि तक किया, धर्मराज युधिष्ठिर ने, जीवन में एक बार ही सही, '**अश्वत्थामा हतो नरो वा कुञ्जरो वा**' कहकर अर्धसत्य का भी सहारा लिया और महात्मा गांधी ने सत्य को सर्वोच्च महत्त्व देने पर भी मानव-सुलभ कमजोरी के कारण असत्य का सहारा लिया, किन्तु अपनी आत्मकथा में इस बात को उजागर भी कर दिया। अभिप्राय यह है कि प्रत्येक मूल्य के क्रियान्वयन के विभिन्न स्तर हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि हम किसी भी मूल्य को जितने ऊँचे स्तर तक व्यवहार में उतारना चाहेंगे, उतनी ही अधिक कठोर तप की अपेक्षा रहेगी।

सत्य और अहिंसा

हमने ऊपर सत्य की चर्चा की किन्तु जैन परम्परा सत्य से भी ऊपर अहिंसा का स्थान मानती है। श्रीकृष्ण ने महाभारत में सत्य की जो परिभाषा दी वहां सत्य और अहिंसा के बीच का अन्तर ही समाप्त हो जाता है-

यद् भूतहितमत्यन्तमेतत्सत्यं मतं मम।

इस परिभाषा के अनुसार प्राणि-मात्र का आत्यन्तिक हित ही सत्य निर्धारक है और यही अहिंसा भी है।

अहिंसा के दो पक्ष

जैन आचार्यों ने अहिंसा के दो पक्ष बताये। हमारे अहिंसक आचरण का दुहेरा प्रभाव होता है-- एक प्रभाव तो स्वयं अहिंसा के साधक पर पड़ता है, दूसरा प्रभाव उस पर पड़ता है जिसके प्रति अहिंसक व्यवहार किया जाता है। मुख्यता उस प्रभाव की है जा स्वयं अहिंसा के साधक पर पड़ता है। यह अहिंसा का निश्चय पक्ष है, हमारे अहिंसक आचरण का दूसरे पर पड़ने वाला प्रभाव व्यवहार पक्ष है। आचार्य अमृत चन्द्र ने कहा कि स्वाश्रित निश्चय है, पराश्रित व्यवहार है-

आत्माश्रितो निश्चयः, पराश्रितों व्यवहारः।

यह विभाजन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। ऊपर हमने कहा कि किसी भी मूल्य के दो प्रकार के प्रभाव होते है। एक प्रभाव वह है जो स्वयं साधक पर पड़ता है

दूसरा प्रभाव वह है जो साधक के व्यवहार से दूसरों पर पड़ता है। इनमें से प्रथम प्रभाव आध्यात्मिक है, तो दूसरा प्रभाव सामाजिक है। इस प्रकार कोई भी मूल्य न शुद्ध आध्यात्मिक होता है, न शुद्ध सामाजिक। यहां तक कि यदि कोई साधक नितान्त एकान्त में ऐसी जगह साधना करता है जहां कोई दूसरा है ही नहीं तो भी उसकी साधना की तरंगे आस-पास के पूरे परिवेश को उसके बिना जाने ही पवित्र कर देती हैं-

कुलं पवित्रं जननी कृतार्थ वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसच्चित्सुखसागरेऽस्मिँल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः।।

इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति समाज-कल्याण की धुन में आत्म-कल्याण की बात विस्मृत कर देता है तो उसका सामाजिक क्रिया-कलाप आध्यात्मिकता के अभाव में अहंकार का ही पोषक बन जाता है। वैदिक परम्परा में यज्ञ समाज-कल्याण की प्रक्रिया है किन्तु उसमें आसक्ति का विसर्जन प्रथम शर्त है-**इदन्न मम।** यह अनासक्ति अन्तर्मुखता से आती है।

अन्तरात्मन् से परमात्मन्

अन्तर्मुखता का अर्थ बाहर की उपेक्षा नहीं है किन्तु अर्न्मुखता में बाहर की अपेक्षा भी नहीं होती है। बाहर की उपेक्षा करके साधक अन्तरात्मन् हो सकता है, परमात्मन् नही; परमात्मा में तो आन्दर-बाहर का भेद ही समाप्त हो जाता है। बाहर की अपेक्षा बनी रहे तो व्यक्ति पदार्थ का दास हो जाता है। उपेक्षा-अपेक्षा दोनों से ऊपर उठना ही वीतरागता है; उपेक्षा तो द्वेष का ही सूक्ष्म रूप है, वह वीतरागता नहीं है। इसलिए वीतराग समाज की उपक्षा नहीं करता अपितु वह प्राणिमात्र के प्रति करुणा से भर उठता है। यह अवश्य है कि उसकी करुणा राग की पोषक नहीं होती अपितु राग की नाशक होती है। यही करुणा का वास्तविक स्वरूप है-- **कारुण्यञ्च वैराग्यान्न भिद्यते।** जो रागात्मकता को ही अहिंसा समझ बैठे हैं, उन्हें जैनियों की -विशेषकर तेरापन्थी जैनियों की-- अहिंसा समझ में नहीं आती।

समाज और अहिंसा

सामाजिक व्यवहार में राग का अंश अनिवार्यतः रहता है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सामाजिकता के नाम पर राग को निरंकुश होने दिया जाये। निरंकुश राग तो सामाजिकता में भी साधक न होकर बाधक हो जाता है। निरंकुश राग ही शोषण की जड़ है। निरंकुश राग व्यक्ति को दूसरों के प्रति क्रूर बना देता है। तब परिवार मं एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के लिये, समाज में एक वर्ग दूसरे वर्ग के लिये

और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के लिये अशान्ति का कारण बना जाता है।

सामूहिक जीवन में आवश्यकता अनिवार्य राग तथा अनावश्यक राग के बीच सीमा-रेखा खींचने की है। आल्यस्य-वृत्ति वीतरागता नहीं है, वह दरिद्रता की जनक है और दरिद्रता अपरिग्रह नहीं है। दरिद्रता एक विवशता है, अपरिग्रह एक जागृत चेतना की सहज स्फू र्त आत्मलीनता है। दूसरी ओर विलासिता का जीवन कर्म-योग नहीं है, वह तो जीवन की ज्वाला को राख बना देता है। दरिद्रता धन के अभाव की अशान्ति लाती है, विलासिता धन के प्रभाव की अशान्ति लाती है। धन अपनी और दूसरों की आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन बने, साध्य न बन जाये। त्याग अध्यात्म के लिये ही नहीं, समाज के लिये भी आवश्यक है।

संस्कृति और सभ्यता

सामाजिक जीवन आन्तरिक जीवन और बाह्य जीवन के बीच समन्वय करके चलता है। आन्तरिक जीवन के मूल्य संस्कृति हैं। बाह्य जीवन के मूल्य सभ्यता हैं। भगवान् ऋषभ देव ने आन्तरिक जीवन के लिये अहिंसा, तप, त्याग के मूल्य तो दिये ही, राजा के रूप में बाह्य जीवन की समृद्धि के लिये असि, मसि और कृषि की तकनीक भी दी। यह संस्कृति और सभ्यता दोनों की स्वीकृति का सूचक है।

तकनीक का विकास दरिद्रता की अशान्ति को मिटाता है, सांस्कृतिक मूल्य विषमता की अशान्ति को मिटाते हैं। तकनीकी विकास सम्पन्नता-समृद्धि लाये किन्तु यदि वह समृद्धि कुछ सीमित व्यक्तियों अथवा राष्ट्रों तक सिमट कर रह जाती है तो टकराव आवश्यम्भावी है। इस टकराव से किसी समस्या का समाधान नहीं होता । यदि एक वर्ग संघर्ष द्वारा दूसरे वर्ग पर विजय पा भी लेता है तो वह प्रतिक्रिया में पराजित वर्ग के साथ अन्याय करने लगता है। इस क्रिया-प्रतिक्रिया का कोई अन्त नहीं आता, हम एक अति से दूसरी अति पर चले जाते हैं। प्रतिक्रियात्मकता का ऐसा ही स्वभाव है।

अहिंसक क्रान्ति

कोई हिंसक क्रांति शान्ति नहीं ला सकती किन्तु अहिंसा के नाम पर कमजोर वर्ग को शान्त रहने के लिये भी नहीं कहा जा सकता। अहिंसा यथास्थिति की पोषक नहीं है किन्तु अहिंसक क्रान्ति सवयं के रूपान्तरण से प्रारम्भ होती है, दूसरों के बलपूर्वक परिवर्तन से नहीं।

अहिंसा और अध्यात्म

वस्तुतः अहिंसा एक नैतिक मूल्य ही नहीं है, एक आध्यात्मिक मूल्य भी है। आत्मा की गहरायी से डूबने पर अहिंसा का जो स्वरूप अनुभव में आता है वहां बुद्धि नहीं जाती–**मई तत्थ न गाहिया।** आत्मा के गहरायी में द्वैत नहीं है। जहां द्वैत नहीं है, वहां कारण–कार्य सम्बन्ध नहीं है और जहां कारण कार्य संबंध नहीं है, वहां कोई शर्त नहीं है। इसलिये अहिंसा एक बेशर्त प्रेम है। 'अच्छे के प्रति अच्छा होना' अहिंसा का बहुत स्थूल रूप है, अहिंसा अपने सूक्ष्म रूप में अच्छे बुरे में भेदभाव किये बिना सर्वमंगल की कामना करती है। अहिंसा सामने वाले की क्रिया की प्रतिक्रिया नहीं है, वह चेतना का स्वभाव है, जैसे प्रकाश देना सूर्य का स्वभाव है। सूर्य प्रकाश देते समय यह थोड़ ही देखता है कि कौन उसकी निन्दा करता है और कौन उसकी स्तुति करता है। जैसे सूर्य से बिना शर्त प्रकाश प्रवाहित होता है, वैसे वीतराग से बिना शर्त करुणा प्रवाहित होती है। वहां न नय काम करती है, न प्रमाण, न निपेक्ष। अधिक क्या कह वहां तो द्वैत भी प्रतीत में नहीं आता–

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं
क्वचिदपि च न विद्मो याति निपेक्ष चक्रम्
किमधिकमभिदध्मों धाम्नि सर्वङ्कषेऽस्मि–
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव।।

जब द्वैत प्रतीति में नही आता तब यह प्रतीत होता है कि जिसे मैं पीड़ित करना चाह रहा हूं वह तो मैं स्वयं ही हूं– **तुमं सि तुमं ना जं हन्तव्वं ति मन्नसि।** जब द्वैत नहीं रहता तब आचाराङ्ग की इस वाणी का उपनिषद् की इस वाणी से भी कोई भेद नहों रहता कि–

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।

यह स्थिति भारतीय चिन्तन की वह शिखर–भूमि है जहां व्यक्तिगत शान्ति के द्वार भी अनावृत हो जाते है और विश्व–शान्ति के सूत्र भी मिल जाते है क्योंकि अन्ततो गत्वा व्यष्टि समष्टि की ही तो प्रतिनिधि है।

उपसंहार

इसी सारी चर्चा में एक बात विशेष ध्यातव्य है। विश्व–शान्ति की चर्चा पूरे संसार में हो रही है। अनेकानेक मूल्यवान् सुझाव और प्रस्ताव आ रहे हैं। युद्ध की विभीषिका का भयावह चित्र बारम्बार हमारे सामने रखा जा रहा है। किन्तु एक प्रश्न

विशेष रूप से विचारणीय है। क्या यह सम्भव है कि व्यक्ति भले ही अशान्त रहे किन्तु विश्व में शान्ति हो जाये? और यह सम्भव है कि व्यक्ति अपनी इच्छाओं की कोई सीमा न बांधे और उसे फिर भी शान्ति मिल जाये? क्या यह आवश्यक नहीं कि व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की और इच्छाओं की एक सीमा बांधे; आवश्यक का अर्जन करे किन्तु आवश्यक का विसर्जन भी करे? यदि यह आवश्यक है तो निश्चय ही जैन चिन्तन सहित पूरी भारतीय परम्परा में विश्व शान्ति के लिये देने को मूल्यों की एक अपूर्व परम्परा है- अहिंसा, संयम और तप। यही वे मूल्य हैं जिन्हें हम धर्म कहते हैं, और जो धर्म उत्कृष्ट मङ्गल रूप है-

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं
अहिंसा संजमो तवो

आचार्य श्री महाप्रज्ञ इसी धर्म का शङ्खनाद करते गाँव गाँव, गली गली जीवन भर घूमते रहे हैं। उनके इस श्रमपूर्ण सर्वमङ्गलकारी तप के सम्मुख कौन विचारशील व्यक्ति नतमस्तक न हो जायेगा? किन्तु नतमस्तक होने के साथ ही उससे भी अधिक आवश्यक है उनके सन्देश को जीवन में उतारना । तथास्तु।

अहिंसा-दर्शन और आतंकवाद

डॉ. दयानन्द भार्गव विपुल

एक बार फिर मुम्बई में आतंककारी हमलों ने पूरे देश को हिला दिया। अब आतंकवाद सर्वव्यापक सा बन गया है। आतंकवाद पर देश-विदेश के अनेक विचारक और नेता अपनी-अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते रहे है। आतंकवाद की रोकथाम के लिए अनेक उपाय भी सुझाए जाते है। इस देश में अहिंसा पर विचार-विमश्र की एक बहुत लम्बी परम्परा है। देखना चाहिए किक इस अहिंसा सम्बन्धी चिन्तन में हमें आतंकवाद का क्या समाधान प्राप्त होता है। अहिंसा का विवेचन केवल सामाजिक अथवा राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में ही न होकर दार्शनिक तथा आध्यात्मिक अहिंसा समस्या की जड़ पर चोट करती है।

आध्यात्मिक दृष्टि से हिंसा के मूल में रोग-द्वेष रहता है और राग -द्वेष का कारण विलास-प्रियता है। इसलिए भगवान महावीर ने धर्म का स्वरूप बताते समय केवल अहिंसा का नाम नहीं लिया अपितु अहिंसा के साथ-साथ संयम और तप को भी गिनवाया- **अहिंसा संजमो तवो।** संयम और तप के बिना अहिंसा निर्वीय हो जाती है। हमारे अपने युग में महात्मा गांधी अहिंसा के द्वारा अत्यन्त शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य को इसलिए पराजित कर सके कि उनकी अहिंसा संयम और तप की सहचरी थी। दर्भाग्य से उनके बाद हम अहिंसा की बात तो करते रहे किन्तु संयम और तप का नाम लेना भी पांगापन्थीपना समझ लिया गया। फलत: हमारा अहिंसा की दुहाई देना एक थोथा नारा बन कर रह गया। भगवान महावीर और महात्मा गांधी के समान ही भगवान बुद्ध भी अहिंसा के गम्भीर विवेचक थे। हम विकास की धुन में संयम और तप के मूल्यों को विकास का बाधक मान रहे हैं। सच्चाई यह है कि संयम के अभाव में आर्थिक उन्नति हित साधने की जगह अहित अधिक करती है। यह बात संसार के सभी विचारशील पुरुषों ने कही है। आज आचार्य महाप्रज्ञ और डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम जैसे मनीषी इस बात को बारम्बार दोहरा रहे है किंतु ऐसे महापुरुष एक विरल अपवाद ही बन कर रह गए है, सामान्य प्रवाह तो भोगवाद का ही बनता जा रहा है।

आतंकवाद की समस्या व्यक्तिगत नहीं, सामूहिक है। आतंककारी एक दिग्भ्रमित विचारधारा की सन्तान है। उस विचारधारा की काट केवल आतंकवाद की निंदा करने से नहीं होगी आतंककारी विचारधारा की काट एक संयमित, कष्टसहिष्णु, तप:पूत, सात्विक जीवनशैली है। सुरक्षा के उपायों को सुदृढ़ बनाना इत्यादि तो आवश्यक है ही, किंतु मूल पर चोट करना भी आवश्यक है। ध्यान दने

की बात यह है कि आध्यात्मिक उपाय अलग-अलग समस्याओं के लिए अलग-अलग नहीं होते। अध्यात्म की दृष्टि समग्र होती है। आध्यात्मिक जीवनशैली आतंकवाद का ही समाधान नहीं करेगी, प्रत्युत अन्य गरीबी, जातिवाद, भ्रष्टाचार जैसी ज्वलन्त समस्याओं को भी समाहित कर देगी।

भारत को इस दिशा में पूरे संसार को नेतृत्व प्रदान करना है। हमें ऐसा किसी प्राकर की विकृत राष्ट्रीयता के अहंकार-वश नहीं करना है अपितु मानव-मात्र के कल्याण के लिए वेदों से लेकर आज तक ऋषि-मुनियों ओर मनीषियों का चिन्तन हमें धरोहर में मिला है उसे अत्यन्त विनम्र भाव से व्यवहार में उतार कर संसार के सामने रखना है। क्रान्तदर्शी महर्षि अरविन्द ने भारत से यही अपेक्षा की थी। हमें उनकी अपेक्षा पूरी करनी है।

हिंसा कैसे कम हो

(डॉ दयानन्द भार्गव)

पिछली महावीर जयन्ती से लेकर इस महावीर जयन्ती तक अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय स्तर पर चारों ओर फै ली हिंसा की लपटों ने सबको हिला कर रखा दिया। अमरीका में पेन्टागन पर आतङ्कवादियों का हमला और उसके जवाब में अमरीका की अफ गानिस्तान में की गयी कार्यवाही तथा गुजरात में गोधरा की घटना और उसके बाद पूरे गुजरात में फैली हिंसा सभी के लिये चिन्ता का विषय बने रहे।

भगवान् महावीर ने अपना पूरा जीवन अहिंसा की साधना को अर्पित किया। उनका सन्देश हम सबके सामन है। उनके बाद मध्ययुगीन सन्तों के माध्यम से होती हुई अहिंसा की वाणी महात्मा गान्धी के माध्यम से हम तक अत्यन्त सजीव रूप में पहुँची। फिर भी हिंसा मिटी नहीं। महावीर जयन्ती पर विचार करें कि हिंसा के निवारणार्थ भगवान् महावीर ने क्या उपाय सुझाये थे।

आज से वर्ष पूर्व जर्मन विद्वान् हर्मन जैकोबी ने भगवान् महावीर की वाणी के कुछ महत्त्वपूर्ण भाग का अँग्रेजी अनुवाद किया और उसकी पृष्ठों में एक विस्तृत भूमिका भी लिखी। उस भूमि का में उन्होंने बताया कि व्रतों की परम्परा जैनों के समान ही वैदिक तथा बौद्ध परम्परा में भी थी। प्रसिद्ध पाँच व्रतों में से चार- अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा ब्रह्मचर्य्य-- वैदिक, बौद्ध तथा जैनों में समान थे । किन्तु पाँचवाँ व्रत तीनों परम्पराओं में अलग अलग था। वैदिक परम्परा में पाँचवाँ व्रत दान था, बौद्धों में पाँचवें व्रत के अन्तर्गत मादक द्रव्यों का त्याग करवाया जाता था किन्तु भगवान् महावीर ने पाँचवें व्रत के रूप में दान अथवा मादक द्रव्यों के त्याग को न रख कर अपरिग्रह को रखा। यह बिन्दु विचारणीय है कि उन्होंने ऐसा क्यों किया।

भगवान् महावीर के साहित्य का पिछले ५० वर्षों से निरन्तर मन्थन करने पर आचार्य महाप्रज्ञ ने कहा कि ''अहिंसा परमधर्म है'' कहने के स्थान पर हमें कहना चाहिये ''अपरिग्रह परम धर्म है'' आचार्य महाप्रज्ञ ने देखा कि हिंसा तो परिणाम है, कारण परिग्रह है। संसार में जितने बड़े बड़े युद्ध इतिहास में अङ्कित हैं उनके पीछे परिग्रह बटोरने की ही भावना है। इस देश पर जितने विदेशी आक्रमण हुए, पैसा बटोरने के लिये हुए। महाभारत का युद्ध न होता यदि दुर्योधन श्री कृष्ण की इतनी सी बात मान गया होता कि पाँच पाण्डवों के लिय पाँच गाँव दे देता। लेकिन उसका लोभ इतना बढ़ा हुआ था कि उसने कह दिया कि वह बिना युद्ध के

सुई की नोंक के बराबर भी जमीन नहीं देगा। महाभारत का युद्ध हुआ और दुर्योधन का पूरा वंश नष्ट हो गया। दूसरी और श्रीराम और भरत का उदाहरण है। भरत कह रहे हैं कि राज्य श्रीराम को ही करना चाहिये किन्तु श्रीराम कहते हैं कि पिता की आज्ञानुसार वे १३ वर्ष वन में ही रहेंगे, राज्य भरत ही करे। न श्रीराम को राज्य का लोभ था, न भरत को। दोनों राज्य को फुटबाल की गेंद की तरह एक दूसरे के पाले में उछाल रहे थे। यह अलोभ का उदाहरण है। हिंसा का प्रश्न ही नहीं हुआ; श्रीराम और भरत का प्रेम एक मुहावरा बन गया।

भगवान् महावीर ने पाया कि जहाँ लोभ होगा वहाँ हिंसा होगी। फिर उन्होंने यह भी देखा कि सामान्य व्यक्ति को जीवन यापन के लिये पैसा तो चाहिये। अतः उन्होंने दो मार्गों का प्रतिपादन किया एक मार्ग उनके लिये बताया गया जो अहिंसा की विशिष्ट साधना करना चाहते हैं; पूरा जीवन अहिंसा को ही समर्पित करना चाहते हैं। उनके लिये उन्होंने पूर्ण अपरिग्रह का प्रतिपादन किया। किन्तु वे जानते थे कि ऐसा करना कुछ गिने चुने लोगों के लिये ही सम्भव है, सामान्यजन न पूर्ण अपरिग्रह का पालन कर सकते हैं, न पूर्ण अहिंसा का । ऐसे लोगों के लिये उन्होंने कम से कम परिग्रह और कम से कम अहिंसा का आदर्श रखा।

महात्मा गाँधी वैष्णव थे, जैन नहीं, लेकिन अहिंसा उन्हें बहुत प्यारी थी। उन्होंने यह देख लिया कि अहिंसा के साथ अपरिग्रह बहुत जरूरी है। उनके अपने जीवन को देखें तो वह अपरिग्रह का मूर्त्त रूप है। बहुत कम लोगों को मालूम होगा कि वे जीवन भर हवाई जहाज में नहीं बैठे। उन्होंने सारी विदेश यात्रा पानी के जहाज में ही की। भारत में वे सदा रेल के सबसे नीचे के दर्जे में यात्रा करते रहे। कभी ऊँचे दर्जे के डिब्बे में रेल-यात्रा नहीं की। यह सब अपरिग्रह कम साधनों से जीवन-यापन- की साधना थी। आज हम अपने लिये अधिक से अधिक साधन जुटाने को ही जीवन का एक मात्र लक्ष्य मानकर चल रहे हैं और फिर चाहते हैं कि हिंसा न हो। यह कैसे सम्भव है ?

साधना चाहियें किन्तु उनकी एक उचित सीमा बाँधें बिना समाज में आने वाली अराजकता को नहीं रोका जा सकता। जब हम सीमा से अधिक साधन जुटाने में लग जाते हैं तो हमारा स्वार्थ हम पर इतना हावी हो जाता है कि हम उचित - अनुचित का विवेक खो बैठते हैं। स्वार्थ के अनेक रूप हैं- अधिकाधि सुविधा, बड़ी से बड़ी सत्ता, पद, प्रतिष्ठा - ये सब स्वार्थ सिद्धि के साधन हैं। साधन के रूप में धन एक मात्रा में सामान्य व्यक्ति को चाहिये किन्तु अनर्थ तब प्रारम्भ हाता है जब धन साधन न रह कर साध्य बन जाता है।

सुविधा भी आवश्यक है किन्तु उतनी ही जितनी कार्य को प्रगति दे। जो सुविधा आराम तलबी में डाल कर कार्य को ही अवरुद्ध कर दे वह सुविधा तो दुविधा ही है। फिर यह भी विचार आवश्यक है कि सब सुविधाओं के साधन कुछ गिने चुने लोगों तक ही सिमट जायेंगे तो बाकी लोग मूलभूत आवश्यकताओं की भी पूर्त्ति न कर पायेंगे। उनका असन्तोष उन्हें निर्मम और हिंसक बना देगा। उन्हें अहिंसा की बात कभी भी रुचिकर नहीं लग सकती।

हिंसा की समस्या का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण पहलू है। हमारी शिक्षा हमें कुछ ज्ञान और प्रशिक्षण देती है जो ज्ञान और प्रशिक्षण हमें आजीविको पार्जन में सहायक सिद्ध होता है। शिक्षा को यह करना ही चाहिये। किन्तु क्या हमारी शिक्षा में हमें यह भी सिखाया जाता है कि हमें अपने क्रोध पर कैसे नियन्त्रण रखना चाहिये? क्रोध एक बिमारी है। बिमार को यह कह देने मात्र से कि बिमारी बुरी चीज है, बिमारी दूर नहीं हो जाती। उसे दवाई देनी पड़ती है और उसके लिये एक जीवन चर्य्या बतानी पड़ती है कि दुबारा बिमारी न हो। हम यह तो कहे जा रहे हैं कि हिंसा बुरी है, क्रोध बुरा है किन्तु यह नहीं बता पा रहे कि क्रोध कैसे छूटे। हमारी प्राचीन शिक्षा पद्धति केवल सैद्धान्तिक नहीं थी, प्रयोगात्म कभी थी। विद्यार्थी का पुराना नाम है- ब्रह्मचारी। वह एक जीवन शैली एक चर्या- जीता था, ब्रह्मचर्य्य की चर्या। ब्रह्मचर्य्य की चर्या में ज्ञानोपासना के साथ साथ आत्म-संयम की चर्या भी अनिवार्य थी।

योग के अनेक प्रयोग है, ध्यान की विधियाँ है। उन प्रयोगों के द्वारा अपने संवेगों पर नियन्त्रण रखा जा सकता है। परिश्चम में योग का योगा नाम से कुछ प्रचलन हुआ तो हमने भी फैशन के तौर पर कहीं कहीं उसका समावेश कर दिया। इतने से काम नहं चलेगा। महाभारत की एक घटना है। द्रोणाचार्य ने अध्ययन-काल में कौरव-पाण्डवों को एक शिक्षा दी 'क्रोध मत करो।' दूसरे दिन पूछा कि क्या सबने पाठ याद कर लिया। सबने कहा कि उन्हें पाठ याद है, किन्तु युधिष्ठिर ने कहा कि उन्हें अभी याद नहीं हुआ। द्रोणाचार्य को क्रोध तो आया पर पी गये और कहा कि कल अवश्य याद कर आना। दूसरे दिन फिर पूछा तो युधिष्ठिर ने फिर कह दिया कि अभी उन्हें याद नहीं हुआ। तीसरे दिन भी जब युधिष्ठिर ने यही कहा तो द्रोणाचार्य अपने क्रोध पर काबू नहीं रख सकें। उन्होंने युधिष्ठिर के एक थप्पड जोर से मारा । युधिष्ठिर स्थिर रहे। फिर बोले कि अब मुझे पाठ याद हो गया आपने थप्पड़ मारा तो मुझे क्रोध नहीं आया। तीन दिनों में कोई ऐसी परिस्थिति आयी ही नहीं थी कि मैं यह परीक्षा कर पाता कि मैंने क्रोध पर विजय पाली है या नहीं। बिना कारण तो क्रोध आता नहीं है। आज कारण होने पर भी क्रोध नहीं

आया तो मैं मानता हूँ कि आपका पाठ मुझे याद हो गया। कहानी है, लेकिन महत्त्वपूर्ण है। नैतिक शिक्षा का रूप सैद्धान्तिक ही नहीं, प्रयोगात्मक भी होना चाहिये। आज भी शिक्षा संस्थायें अपने छात्रों को एक चरित्र-प्रमाण-पत्र देती है -- अमुक का चरित्र उत्तम है। क्या वस्तुत: यह प्रमाण-पत्र प्रामाणिक होता है? क्या हमने कभी परीक्षा ली कि वह विद्यार्थी अवसर मिलने पर चरित्र से च्युत तो नहीं हो जायेगा ? अहिंसा की शिक्षा-- सैद्धान्तिक और प्रयोगात्मक-- दी जा सकती है; भारत में दी जाती थी। हमने धर्मनिरपेक्षता का दायरा इतना बड़ा कर दिया कि संयम की शिक्षा को भी साम्प्रदायिक मान कर शिक्षा से बाहर कर दिया। क्रोध प्रकृतिजन्य है, क्षमा शिक्षा से अर्जित करनी पड़ती है । जब शिक्षा में से संस्कार निर्माण की बात हट गयी, तो जो सहज वृत्ति थी वह रह गयी। अहिंसा कहाँ से आती? शिक्षा ने कुछ सूचनायें देने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान ली। सूचनायें कम्प्यूटर में भी खूब रहती हैं तो क्या कम्प्यूटर शिक्षित मनुष्य बन जाता है?

एक प्राचीन कवि-दार्शनिक भर्तृ हरि ने लिखा कि साहित्य, सङ्गीत ओर कला से रहित मनुष्य बिना सींग-पूँछ का पशु ही है । बात कड़वी है, पर सच है। साहित्य और कला भावनाओं के परिष्कृत करने का उत्तम साधन हैं। कुछ समय पहले तक साहित्य तथा कला को शिक्षा में सम्मानित स्थान प्राप्त था। आज साहित्य तथा कला में प्राय: वे विद्यार्थी जाते हैं जिन्हें किन्हीं व्यवसायिक पाठयक्रम में प्रवेश नहीं मिल पाता। रोजगार मूलक शिक्षा आज का नारा है। क्योंकि साहित्य, कला और दर्शन रोजगार मूलक नहीं हैं, अत: वे द्वितीय श्रेणी के विषय बनकर उपेक्षित हो रहे हैं। चाहिये तो यह था कि रोजगार मूलक पाठयक्रमों का भी साहित्य, कला तथा दर्शन को अनिवार्य अङ्ग बनाया जाता ।

साहित्य के अध्ययन की बात आती है ता धार्मिक साहित्य की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। भगवान् महावीर ने एक सिद्धान्त दिया कि सभी मत एक न एक अपेक्षा से सही हैं। इस सिद्धान्त का नाम है- अनेकान्त। हिन्दु धर्म की अपनी विशेषता है तो इस्लाम की अपनी विशेषता है। किन्तु शिक्षा में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं कि छात्र अपने धर्म की भी मुख्य मुख्य विशेषताओं को जान ले, दूसरे धर्म की विशेषतायें जानता तो बहुत दूर की बात है। लेकिन जब तक हम दूसरे धर्मों की मुख्य विशेषताओं पर दृष्टिपात नहीं करेंगे, हममें उस धर्म के प्रति सम्मान का भाव पैदा होना कठिन ही है। अज्ञान में हमें कोई भी किसी भी धर्म के विरुद्ध भड़का सकता है। धर्मों के मर्म से अपरिचित होने पर मुसलमान यह समझते रहते हैं कि हिन्दु पत्थरों की पूजा करने वाले अज्ञानी हैं और हिन्दु यह समझते रहते हैं कि

इस्लाम मार-काट करना सिखलाने वाला धर्म है। न मुसलमान गीता को देखता है, न हिन्दु कुरान को। इस अज्ञान में प्राय: हम मन ही मन एक दूसरे को अपने से नीचा मानते रहते हैं। सभी धर्मों की मुख्य विशेषताओं का ज्ञान विद्यार्थी का शिक्षा के साथ देना कोई कठिन कार्य नहीं है। 'मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना' से आगे बढ़कर भगवान् महावीर ने एक और सन्देश दिया 'हम हर मजहब से सीखें उसकी अच्छाईयों को'। हम किसी सम्प्रदाय के प्रति अज्ञान के कारण दुर्भावनाओं से भरे रहते हैं और जरा सा बहाना मिलने पर वह दुर्भावना हिंसात्मक आक्रोश के रूप में अभिव्यक्त हो जाती है।

हो यह रहा है कि कहीं भी हिंसा भड़कती है तो तत्काल प्रेम और भाई चारे के सन्देश आने चालू हो जाते हैं। यह ऐसा ही है जैसे कहीं प्लेग फैलने पर स्वास्थ्य के गुणगान करना चालू किया जाये। संस्कृत के एक कवि हुए-माघ। उन्होंने लिखा कि जब व्यक्ति क्रोध में होता है तो उसके सामने शान्ति की चर्चा करने करने से वह वैसे ही भड़क जाता है जेसे उबलत हुए तेल में ठंडे पानी के छींटे डालने से तेल ठंडा नहीं हो जाता अपितु उसमें से आग की चिनगारियाँ ही फूटती हैं। जब दो सम्प्रदायों में तनाव हो तो हमारी शान्ति की चर्चा की प्रतिक्रिया यह होती है कि एक सम्प्रदाय वाला कहता है कि हम तो शान्त ही हैं, दूसरे सम्प्रदाय वालों को कहो कि वे शान्त हों। इस प्रकार शान्ति की अपील प्राय: निरर्थक ही सिद्ध होती है। जरुरत है कि हिंसा के भड़कने से पहले ही उसकी रोकथाम के उपाय किये जायें।

अहिंसा की एक और महत्त्वपूर्ण कड़ी है। भगवान् महावीर ने कहा कि वस्तुत: व्यक्ति अकेला है। वह जो कर्म करता है-अकेले करता है ओर अकेले ही उसका फल भी भोगता है। हम व्यक्ति के इस अकेलेपन वाले पक्ष को भूल कर कुछ व्यक्तियों के अपराध को एक पूरे वर्ग का अपराध मान लेते हैं। एक सम्प्रदाय के कुछ व्यक्ति गलती करते हैं, हम उस गलती को पूरे सम्प्रदाय की गलती मान लेते हैं। गलती कोई और करता है, दण्ड किसी और को दे दिया जाता है। एक सम्प्रदाय के दस व्यक्तियों ने हिंसा की। वे तो भाग निकले। हम उस सम्प्रदाय के दूसरे दस व्यक्तियों को पकड़ लेते हैं और उन्हें मार डालते हैं। यह निपट अज्ञान है। भगवान् महावीर ने कहा कि पूर्ण अहिंसक तो सापराध की भी हिंसा नहीं करता किन्तु जो आंशिक रूप में अहिंसक है वह भी कम से कम निरपराध को तो न मारे। पर यही हो रहा है। अमरीका ने अफगानिस्तान में जो बमबारी की उसमें निरपराध भी मरे। पुरानी आमने सामने की लड़ाई में- जैसी महाभारत में कुरुक्षेत्र में हुई- योद्धा योद्धा को ही मारता था। आज की युद्ध कला में निरपराध नागरिक-

- बूढ़े, बच्चे, महिला-- मारे जाते हैं। कभी युद्ध किसी अपेक्षा से वीरता का प्रतीक भी रहा होगा किन्तु आज युद्ध क्रूरता का ही नमूना है। सच तो यह है कि विज्ञान और तकनीक की उन्नति के साथ साथ यदि तत्सम कक्ष अहिंसा की भावना का भी विकास नहीं होता है तो जिसे हमें विकास समझ रहे हैं, वह अन्त तो गत्वा विनाश सिद्ध हो जायेगा। जरु रत इस बात की है कि विज्ञान या तकनीक के प्रशिक्षण के साथ अहिंसा का भी प्रशिक्षण दिया जाये। हिंसा के भड़कने पर उसे रोकने के लिये जो साधन बरते जाते हैं वे दण्ड-प्रयोग के हैं जो पुलिस अथवा सेना द्वारा किया जाता है। यह स्थायी समाधान नहीं है। स्थायी समाधान यह है कि हम हिंसा की जड़ को पकड़े। इसके लिये भगवान् महावीर ने अमूल्य सूत्र हमें दिये हं।

संक्षेप में जीवन के प्रति एक ऐसा स्वस्थ दृष्टिकोण विकसित करना होगा जो विलासिता की अपेक्षा सादगी को वरीयता दे। यह अपरिग्रह है । शिक्षा के अन्तर्गत उन विधियों को अपनाना होगा जिसके द्वारा व्यक्ति की पाशविक वृत्तियों का उदात्तीकरण हो सके। यह योगाभ्यास है। सेक्स और हिंसा को प्रोत्साहन देने वाली विकृत कला के स्थान पर सत्यं, शिवं, सुन्दरं की स्थापना करने वाली कला और साहित्य को बैठाना होगा। यह स्वाध्याय है। हमें अपने विरोधी के मत में भी अच्छाई वाला पक्ष दखना होगा। यह अनेकान्त है। हिंसा की सर्वव्यापी समस्या पर भगवान् महावीर ने बहु-आयामी दृष्टि से जो विचार किया वह मनुष्य-मात्र की अमूल्य सम्पत्ति है। उनकी जन्म-जयन्ती पर प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक राष्ट्र उसका लाभ उठाये- यह अपेक्षित है क्यों कि हिंसा की समस्या सबकी है, किसी एक वर्ग विशेष की नहीं। अत: उसका समाधान भी सबको मिलकर ही करना होगा। भगवान् महावीर ने जब यह कहा कि ''तुम जिसकी हिंसा करते हो, वह तुम स्वयं ही हो'' तो उन्होंने केवल अध्यात्म का ही मूल सूत्र नहीं दिया, सामाजिक सौमनस्य और विश्वशान्ति का भी बीज-मन्त्र दे दिया। इसे सबको आत्मसात् करना होगा। अन्यथा हिंसा को मिटाने का सङ्कल्प एक स्वप्न ही रह जायेगा।

HOW A NON-VIOLENT FUTURE IS POSSIBLE

—Prof. Dayanand Bhargava
Chairman, M.O. Vedavijñāna Chair,
J.R. Rajasthan Sanskrit University Jaipur

Leaving aside those abnormal persons, who enjoy torturing others without any purpose, we have normally to face a cut-throat competition in our day-to-day life. I had to face competition four times in my life for selection as lecturer, reader, principal and professor. Every time there were about 10 to 12 candidates, whereas there was only one post. I was selected by the interview board whereas they were not selected. Thus I became instrumental in their failure. The question is: did I commit violence in as much as I came in the way of the selection of those who were not selected?

POSITION OF ASCETIC TRADITION

There are two answers to this question. The ascetic tradition says that all worldly pursuits necessarily involve violence. The ideal position, therefore, would be to renounce all worldly pursuits and keep your physical necessities to the minimum, fulfilling them by begging food etc. from those who offer them willingly. This concept gave birth to the ideal of a monk's life.

Obviously the above could not be an ideal for all; even the monk has to depend on some who are not monks i.e. who are house-holders. Are these house-holders perfectly non-violent? One answer is that since they earn livelihood by means of some profession where competition is unavoidable, they cannot be perfectly non-violent. But they can try to avoid as much violence as possible. Therefore, their observance of non-violence is only partial. They are supposed to be observing small vows of non-violence, a situation from which this institution of Anuvibha derives its name i.e. Anu=small, v=vow of non-violence etc.

POSITION OF THE GĪTĀ

The Gītā gives another alternative. It says that violence is not committed merely by the fact that if you are performing your duty and somebody has to face unfavorable situation in the process. Performance of assigned duty is necessary not only for earning one's livelihood but also for the maintenance of the society. For example, a soldier has to fight for the defense of his country. A judge has to punish the criminal for maintaining law and order. Now, this solder or the judge can also observe perfect non-violence if they perform their assigned duty without pride or prejudice. Attachment or aversion is the real cause of violence and not the suffering of somebody. Hence it is not necessary to adopt the life of a monk for perfect observance of non-violence and a person can follow normal life as a house-holder earning his livelihood but without any attachment.

Having described the two positions regarding non-violence in short, let us concentrate on the common points which are related with non-violence. Let us also point out the present situation regarding these points as to why non-violence is not successful to the desirable extent:

1. The first and foremost is the necessity of avoiding attachment and aversion, which causes tension, on one side, for the self and unjust behavior, on the other side, for others. This appears to be a very high goal, achievable by a selected few.
2. From absence of attachment comes the tendency of non-possessiveness resulting in an austere life style. There could be different standards of austerity for different people but at least one can try to avoid those luxury items which are harmful to one's own physical and mental health. Mahatma Gandhi wanted complete prohibition in India, but it could not succeed. Total vegetarianism is said to be impractical. Total disarmament also is a pious wish.
3. Exploitation of the weak by the strong is the most prevalent form of violence. This has not been checked in spite of much noise about human rights and Marxism. The tendency to serve self-interest at the cost of others, is at the root of exploitation.
4. Individuals and nations think of living in isolation, whereas we are so intimately inter- connected that the harm of one cannot be the gain of the other, though it may outwardly appear to be so.
5. Even religion has not served its purpose in practice. Dogmatism has led to fundamentalism. More wars have been fought in the name of religion rather than for any other cause.
6. Mahatma Gandhi emphasized the importance of purity of means even for a noble cause. He did not favour violent means even for the cause of getting independence for india. This ideal could be followed only partially even by such a great man as Late Shri Nelson Mandela who has to take recourse to armed struggle against the unjust system of apartheid.
7. Non-violence is a holistic virtue. Non-violence means not adopting any unfair means for serving selfish motive. Telling lie, stealing, having illicit sex, and greed are all different forms of violence. We have not paid attention to this wider aspect of non-violence, limiting it to absence of war or vegetarianism or ecological considerations.

THE WAY OUT

Having enumerated some important hurdles which face observance of non-violence, let us think of a way out.

The remedy lies in one word—spiritualism. Spiritualism means looking inword. When we look inward we find that we are living in an inner world of disharmony between the good and the evil. We try to overcome the evil by good. But normally the reverse of it happens; the evil overcomes the good. We live in a dilemma—the struggle between the good and the evil has no end.

Spiritualism means rising above good and bad. The Sanskrit word for religion is *dharma*. *Dharma* means nature of things. Nature of a thing is as it is —it is neither good nor bad. The nature of the body is mortality; the nature of soul is immortality. When we look outside, we find that everything is perishable. We try to preserve the body for ever. It is against the law of nature. When we look inside we find that there is something which does not change. We call it soul.

THE SOUL IN ITS PURE STATE

The soul is described in the following manner:–It has no color; no taste; no smell; no touch; no gender; no body-form and no bone-structure. All these states of beings are described from the empirical point of view. From the real point of view, all souls are perfect in nature. Soul is indescribable and possessed of consciousness. It is not amenable to inferential cognition and is devoid of bodily structure. The pure soul is free from activities of thought, speech and body. It is independent, infallible and fearless. It is also free from attachment and delusion. The pure soul is free from complexes, attachment, blemishes, desire, anger, lust and all others kinds of defects. The state of pure knower is neither vigilant nor non-vigilant (because vigilence means absence of passions and non-vigilence means presence of passions and the question of absence or presence of passion is irrelevant in case of soul). The knower self is called pure, it is only knower and nothing else. The soul is neither the body, nor the mind nor the speech, nor their cause. Nor is it doer, nor it is the cause of action, nor the approver of action. I am alone, really pure and free from attachment. I have the faculties of apprehension and of comprehension. Being steadfast in concentrating the real nature of self, I discount all those forms that are alien to me.

Knowledge itself only reflects the objects. It is not polluted by that reflection. Therefore it remains unaffected by what goes on in the world. Therefore it is ever free. Space and time are the two important frame works of physical world. The matter exists in time and space but not the soul.

THE RESULT OF SELF-REALIZATION

The feeling realization of this nature of soul opens the doors of an all together different kind of world.

Attachment to worldly things appears to be of no significance. We eat to live and do not live to eat. When one realizes one's own self, one starts recognizing the same soul in others also. Here comes the true sense of equality. One's soul is neither smaller nor bigger from another's soul. All souls are equal. Every creature is a goal unto itself, nobody is a means for achieving my goal. I can only help it, but cannot use it for meeting my selfish end.

Soul is immortal. From it follows absolute fearlessness. There is no necessity of trying to survive by fair or foul means. There is nothing favorable or unfavorable for the soul. Therefore, there is no scope for anger on meeting something unfavorable. There is no necessity of hypocrisy or greed, no question of pride or prejudice.

It is on this self-realization that the real foundation of non-violence is laid. Everything else–social or political– follows automatically.

THE PRESENT SCENERIO

The world is in search of permanent solution. Therefore, Yoga and meditation are becoming so popular. It is a welcome trend because Yoga is the only method of self-realization. Yoga is neither a religion, nor a philosophy, nor a theology, nor a ritual; nothing else except realizing who I am. Then a non-violent future is surely possible.

It one sentence, when we act *for the sake of joy*, we commit violence because, we expect joy from others–animate or inanimate– and use them as means by subjugating them, but when we act *out of joy*, we are non-violent because we don't seek anything from others, giving them full freedom; we only manifest our inner joy. *Let us act out of joy and not for joy. And the whole world changes from violence to non-violence.*

अपरिग्रहः साम्यवाद का भारतीय संस्करण

मनुष्य जाति के इतिहास के प्रारम्भ में मनुष्य केवल अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए अन्नादि का संग्रह करता था। अभी मुद्रा का प्रचलन नहीं हुआ था। पदार्थ के बदले पदार्थ का विनिमय होता था। तब गरीब और अमीर के बीच इतनी गहरी खाई नहीं थी। लोग मोटा खाते थे, मोटा पहनते थे। शारीरिक श्रम जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक था। यह आदिम कालीन साम्यवाद था। सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य की इच्छाएं बढ़ने लगी। छीन-झपटी की प्रवृति बढ़ी। समाज श्रम-केन्द्रित न होकर धन केन्द्रित हो गया। पूंजीवाद का जन्म हो गया । इसके साथ ही धन-संग्रह की बुराइयां भी सामने आने लगी, तो संग्रह की प्रशंसा की गई। पाया गया कि धन संग्रह की प्रवृत्ति मेंलगा मनुष्य अपना सम्मान और ईमान दोनों बेच देता हैं। और तो और वो धन संग्रह के पीछे अपने शरीर तक की, जिसके लिए वह धन संग्रह करता है, उपोक्षी कर देता है। तब मनु को कहना पड़ा कि जितने में जीवनयात्रा चले उतना ही संग्रह करना चाहिए, और वह संग्रह भी ईमानदारी पूर्वक तथा शरीर को अधिक कष्ट दिए बिना करना चाहिए। **यात्रामात्रप्रसिद्धियर्थं स्वैःकर्मभिरगर्हितैः। अक्लेशन शरीरस्य कुर्वीत धन सज्जचम्।।** इस श्लोक में अर्थ-शास्त्रोपयोगी तीन सूत्र आए- आवश्यकता से अधिक संग्रह न करे, अनुचित साधनें से धन न कमाएं तथा धन के पीछे अपने शरीर की उपेक्षा न करें। प्रश्न है कि आवश्यकता का निर्णय कैसे हो? मनु ने इस संबंध में जो कसोटी दी वो बहुत ही कठोर हैं। वे कहते है कि केवल आगे आनेवाले एक दिन के लिए अन्न की व्यवस्था करनी चाहिए। यदि इतना संतोष न हो सके तो तीन दिन की व्यवस्था कर लें। अथवा अधिक से अधिक छह अथवा बारह दिन के लिए अन्न संग्रह किया जा सकता है, किन्तु इससे अधिक के लिए संग्रह की अनुमति नहीं दी जा सकती- **कुसूधान्यका वा स्यात्कुम्भीधान्यक एव वा। त्र्यहैहिको वापि भवेदश्वस्तनिक एव वा।** यह भारतीय साम्यवाद की अवधारणा थी जो शायद कभी व्यवहार में पूर्णतः नहीं आ सककी। तब मार्क्सवादने बलपूर्वक संग्रह पर नियंत्रण का सिद्धांत सामने रखा। यह सिद्धांत भी इसलिए सफल नहीं हो सका कि इसमें अपरिग्रह पर तो बल था, किन्तु अहिंसा की उपेक्षा कर दी गई। हिंसा किसी समस्या का स्थायी समाधान नहीं दे सकती। इस समाज शास्त्रियों के समानान्तर एक व्यवस्था योगियोंने भी दी। समन्यासी तो सभी परम्पराओं के संग्रह से विमुख रहते थे- चाहे वे वैदिक परंपराओं के हो, चाहे

जैन अथवा बौद्ध परंपरा के। ईसाई परंपरा के गृहत्यागी और इस्लाम के फकीर भी असंग्रही होते है। आज यदि कोई सन्यासी संग्रह कर रहे है तो यह उनकी व्यक्तिगत कमजोरी हैं, सिद्धांत तो अपरिग्रह का ही है। योगिजन-सम्मत अपरिग्रह के सिद्धांत के मूल में यह अवधारणा है कि आस्तिक मात्रा बंधन का कारम है । यह समज आ जाने पर स्वत: अपरिग्रह फलित हो जाता है। अनासक्ति पूरिवक आवश्यकता से अधिक का संग्रह किया ही नहीं जा सकता। संग्रह कितना किया जाये-इस विषय में एक मत होना कठिन है। किन्तु कुछ विषयों पर सहमति हो सकती हैं। जो भी पदार्थ हमारे पास है हम उनके प्रति आसक्ति का भाव न रखें। हम उन्हीं पदार्थो की प्राप्ति का प्रयत्न करें जो हमारे वास्तविक हित की सिद्धि में साधक हों। हम प्राप्त पदार्थों की सुरक्षा तथा अप्राप्त पदार्थो की प्राप्ति के लिए जो भी साधन बरतें उनमें सत्य और अस्तेय नामक यमों का उल्लंधन नहीं हो।

और अन्त में पानी बाढ़े दाम। दोनों हाथ उलीचिए, यही सयानो काम। यदि इतना हो सके तो साम्यवाद का भारतीय संस्करण तो साकार रूप ले ही लेगा, सादक भी अपने लक्ष्य की ओर तेजी से आगे बढ़ सकेगा। शायद इसके अतिरिक्त समस्या का कोई दूसरा समीचीन समाधान है भी नहीं।

अपरिग्रह का अर्थशास्त्र

-अधर उधर बिखरे फूलों से की यह गुरु पूजा-

-प्रोफेसर दयानन्द भार्गव

परिग्रह का अर्थ है- मूर्च्छा। अपरिग्रह का अर्थ है- जाग्रत चेतना।

१. जाग्रत चेतना द्वारा सम्यक् दृष्टि का विकास होता है। उस अवस्था में पदार्थ केवल उपयोगिता का हेतु बनता है; सुख दु:ख का हेतु नहीं बनता; अवचिलित चेतना का अनुभव होता है- **आभा मण्डल** पृष्ठ १८५

आराम और सुविधा मूर्च्छा पैदा करती है और चैतन्य की आग पर सुख का ढेर जमा देती है।- **अहिंसा और शान्ति** पृष्ठ १०३

मूर्च्छित चेतना वाला व्यक्ति जीवन के प्रति आसक्त होता है, वह मृत्यु से भयभीत रहता है, इसलिये वह अच्छा जीवन नहीं जी सकता। - **आभा मण्डल** पृष्ठ १८५

२. अपरिग्रह का सिद्धान्त चेतना का स्पर्श है। उसका आधार सम्पत्ति और मुनाफा न हा- यह नहीं है। उसका आधार हैं, पदार्थ के प्रति मूर्च्छा न हो, ममत्व न हो। आवश्यकता भर सम्पत्ति और आवश्यकता भर लाभ जीवन चलाने के लिए आवश्यक है। अनावश्यक सम्पत्ति और अनावश्यक लाभ जीवन चलाने के लिये नहीं है, मूर्च्छा के कारण होता है। - **विचार का अनुबन्ध** पृष्ठ २०७

क्या पदार्थ में कोई मूर्च्छा है? इसमें कोई मूर्च्छा नहीं है। इसमें मूर्च्छा का आरोपण किया जाता है। मूर्च्छा का आरोपण करने वाला है व्यक्ति। वह यदि पदार्थ से अपनी मूर्च्छा हटा लेता है तो पदार्थ पदार्थ मात्र रह जाता है- **उत्तरदायी कौन** पृष्ठ १०५

आवश्यकता की जो पूर्ति है- वह सुख या असुख कुछ भी नहीं है। उससे आगे जो सुख की कल्पना है, वह मानसिक मान्यता है। पदार्थ बन्धनकारक

नहीं, हमारी इच्छा उससे जुड़ती है- तभी वह परिग्रह बनता है। वस्तु स्थिति में परिग्रह इच्छा ही है- **अणुव्रत दर्शन** पृष्ठ २०

३. एक है भीतर का परिग्रह और दूसरा है बाहर का परिग्रह। सारी मानसिक ग्रन्थियाँ भीतर के परिग्रह हैं। धन-धान्य बाहर के परिग्रह हैं। बाहर का परिग्रह हमें नहीं बाँधता । बाँधता है- भीतर का परिग्रह- **कैसी हो इक्कीसवीं शताब्दी** पृष्ठ ४९

इच्छा - परिणाम के निष्कर्ष है- न गरीबी और न विलासिता का जीवन। धन आवश्यकता-पूर्ति का साधन है, साध्य नहीं। धन मनुष्य के लिये है, मनुष्य धन के लिये नहीं। **घर घर दीप जले** पृष्ठ ३१

४. आदमी हिंसा किस लिये करता है ? शरीर के लिये, परिवार के लिये, भूमि, धन और सत्ता के लिये - ये सब परिग्रह हैं। कोई अहिंसा करना चाहे और अपरिग्रह करना न चाहे, यह कभी सम्भव नहीं। -**कैसी हो इक्कीसवीं शताब्दी** पृष्ठ १९३

अपरिग्रह : परमो धर्मः- यह पहली सच्चाई है और अहिंसा परमो धर्मः- यह इसके बाद होने वाली सच्चाई है। - **घर घर दीप जले** पृष्ठ ४५२

संग्रह प्रबल होगा तो हिंसा भी प्रबल होगी। अगर केन्द्र में से एक परिग्रह को हटा लें तो ऐसा लगेगा - सारी समस्याओं का भवन ढह गया।- **मंजिल के पड़ाव** पृष्ठ २

* आचार्य महाप्रज्ञ के विविध ग्रंथों में विकीर्ण वाक्य-कुसुमों से ग्रथित यह लेख उन्हीं के चरण-कमलों में समर्पित है।

५. अपरिग्रही वह नहीं है, जो दरिद्र है, अपरिग्रही वह है जो त्यागी है। अध्यात्मवाद से आवश्यककता की पूर्ति नहीं होती, उसकी पूर्ति के साधनों का विकार मिट सकता है। - **अनुभव चिन्तन मनन** पृष्ठ ५९

भोग समाज की संघातक शक्ति है और त्याग विधायक शक्ति। - **अनुभव, चिन्तन, मनन** पृष्ठ ९

कोई भी व्यक्ति क्रूर हुए बिना समाज का सर्वस्व अकेला नहीं चाहता। इस लिये अहिंसा और अपरिग्रह का अनुबन्ध है। - **मैं, मेरा मन, मेरी शान्ति** पृष्ठ ३५

६. आखिर विकास किस लिये? विकास के लिये मनुष्य है या मनुष्य के लिये विकास है। यदि विकास के लिये मनुष्य है तो वह विकास की मशीन का एक पुर्जा मात्र है- **कैसी हो इक्कीसवीं शताब्दी** पृष्ठ ५

७. धर्म के बिना काम का परिष्कार नहीं होता और काम के परिष्कार बिना अर्थ का परिष्कार नहीं हो सकता। केवल अर्थशुद्धि घटित करने का अर्थ है - हम परिणाम को मिटाना चाहते हैं, कारण को मिटाना नहीं चाहते । यह एक भयंकर दार्शनिक भूल है। **कैसी हो इक्कीसवीं शताब्दी** पृष्ठ ४७

संयम के बिना तनाव को मिटाया नहीं जा सकता- **अपने घर में** पृष्ठ १२९

आवश्यकता बढ़ाने का पहला अर्थ है- संघर्ष, क्योंकि पदार्थ सीमित हैं, आवश्यकतायें असीम हैं। -**कैसी हो इक्कीसवी शताब्दी** पृष्ठ ३८

केवल आर्थिक विकास की धुन में लगा हुआ आदमी क्या गबन और आर्थिक घोटालों से बच पायेगा? विकास और संयम दोनों सापेक्ष हैं। - **आमन्त्रण आरोग्य को** पृष्ठ ४३

८. गरीबी का मूल कारण आकर्मण्यता, पुरुषार्थहीनता, कर्म का अकौशल और साधनसामग्री का अभाव होता है। हम इस सत्यांश का भी अस्वीकार नहीं कर सकते कि धर्म की एकाङ्गी अवधारणाओं ने भी कर्मनिष्ठा को दुर्बल बनाया है। कर्म अथवा प्रवृति में आसक्ति न हो, इस सिद्धान्त का उपयोग कम किया गया, कर्म के त्याग की बात पर अधिक बल दिया गया।- **लोकतन्त्र, नया समाज**- पृष्ठ ५९

९. विकेन्द्रित अर्थ व्यवस्था में पहली बात यह है कि सम्पदा व्यक्ति के पास पहुँचे । वह कहीं केन्द्रित न हो। समूचे समाज के पास पहुँचे। किन्तु वह

शक्ति के प्रयोग द्वारा नहीं, एक सहज स्वीकृत व्यवस्था द्वारा पहुँचे। अहिंसा के दर्शन का सिद्धान्त है सुख और सुख के साधन दो हैं। दु:ख और दु:ख के साधन दो हैं। राजनीति में जो सुख का साधन है वही सुख है और जो दु:ख का साधन है वही दु:ख है। -**धर धर दीप जले** पृष्ठ ४४

१०. आर्थिक स्वास्थ्य के लिये इन सूत्रों का प्रशिक्षण आवश्यक है- विसर्जन की मनोवृत्ति, असंग्रह, विकेन्द्रित अर्थ व्यवस्था, अर्जन में प्रामाणिकता, संविभाग की मनोवृत्ति-**लोक तन्त्र नया समाज** पृष्ठ ९३

११. पर्यावरण का सन्तुलन बिगड़ा । इसका कारण है- मनुष्य में असंयम बढ़ गया है- **अस्तित्व और अहिंसा,** पृष्ठ १८

असंयम के कारण ही खनिज का अतिरिक्त दोहन हो रहा है। क्या खनिज का अतिरिक्त दोहन कर हम भावी पीढ़ी को दरिद्र नहीं बना रहे हैं?- **कैसी हो इक्कीसवीं शताब्दी,** पृष्ठ १२४

समग्रदृष्टि का अर्थशास्त्र

महामहिम राज्यपाल जी! प्रतिष्ठित मञ्चस्थ विद्वद्वृन्द!! एवं छात्र मित्रों !!!

विगत शताब्दी में संसार ने बहुत विकास देखा, अभूतपूर्व उन्नति देखी, प्रगति देखी। किन्तु मनुष्य के मन की व्यग्रता बढ़ी नहीं है तो कम होती हुई भी दिखायी नहीं देती है। आज अपने सामने बैठी हुई जिस तरुण पीढ़ी को मैं देख रहा हूँ- ये युवा छात्रवृन्द, इनके हौसले बहुत बुलन्द हैं। युवा छात्रों के बीच ही मेरी सारी आयु बीती है। मैं जानता हूँ ये उत्साह से भरे हुए हैं, इनमें प्रतिभा है, कार्य करने की क्षमता है और आगे बढ़ने की उमंग है। मुझे पूरा भरोसा है कि इनके कार्य क्षेत्र में पदार्पण के साथ हमारा देश भी शीघ्र ही विकसित देशों की श्रेणी में पदार्पण कर लेगा। सुविधाये बढेंगी, देश आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होगा और सामरिक दृष्टि से सशक्त होगा। यह होने वाला है- इसे कोई ताकत नहीं रोक सकती। सकल पदारथ हैं जग माँ ही। करमहीन नरपावत नाहीं। युवा पीढ़ी करमहीन नहीं है, कर्मठ है, इन्हें जगत के सकल पदार्थ प्राप्त होने वाले हैं- इसमें मुझे रञ्चमात्र भी सन्देह नहीं।

सारे पदार्थ मिल जाने पर भी यदि हमारी व्यग्रता कम नहीं होती तो हमारे विकास की अवधारणा में कहीं समग्रता का अभाव ही उसका कारण है। समग्रता के सामने व्यग्रता नहीं टिक सकती। समग्रता से मेरा अभिप्राय यह है कि जीवन बहुआयामी है- multi dimensional है। जीवन का एक आयाम रोटी, कपड़ा मकान, चिकित्सा है- इस आयाम की पूर्त्ति पैसे से हाती है। जीवन का एक और आयाम मनोकामना की पूर्त्ति है। रोटी, कपड़ा, मकान हमारी आवश्यकता है, कला, काव्य, सौन्दर्य हमारी आवश्यकता नहीं है किन्तु मन की तृप्ति का साधन है। रोटी, कपड़ा, मकान शरीर के लिये चाहिये, कला, काव्य और सौन्दर्य मन के लिये चाहिये। जीवन का एक तीसरा आयाम है कि हम चाहते हैं कि हमारे साथ न्याय-पूर्ण व्यवहार हो। हम चाहते हैं कि लोग तर्क सङ्गत बातें कहें और करें। हमारी अपेक्षा है कि लोग Illogical न हों, irretional न हों। यह माँग हमारी बुद्धि की माँग है। इन तीन आयामों पर विचार करेंगें तो धन की सीमायें स्पष्ट हो जायेंगी। धन से रोटी, कपड़ा, मकान खरीदा जा सकता है। रोटी, कपड़ा, मकान कोई छोटी चीज नहीं है और क्योंकि रोटी, कपड़ा, मकान बिना पैसे के नहीं मिलता इसलिये पैसा भी कोई छोटी चीज नहीं है। चाणक्य ने कहा कि सारे पुरुषार्थों का मूल अर्थ है।

पैसे की जहाँ इतनी महिमा है वहाँ उसकी सीमा भी है। पैसे से काव्य, कला और सौन्दर्य उत्पन्न नहीं होता। बल्कि कभी-कभी तो लगता है कि कला फ क्कडपन में अधिक निखरती है। इसलिये पैसे के बावजूद Aesthetic Sevse के बिना आदमी फूहड़ ही रह जाता है। उसके प्रदर्शन में एक झैंडापन रहता है।

पैसा व्यक्ति को तर्कसङ्गत- rational -भी नहीं बनाता। बल्कि पैसे का अहङ्कार व्यक्ति को irrational ही बनाता है। तर्क सङ्गत होने के लिये दृष्टि की व्यापकता चाहिये। पैसे की यह दूसरी सीमा है कि हम सबसे न्याय सङ्गत होने की अपेक्षा रखते हैं किन्तु धनवान् न्याय सङ्गत व्यवहार ही करेगा ऐसा कोई नियम नहीं है।

पैसे की एक तीसरी सीमा है पैसे से प्रेम नहीं खरीदा जा सकता । हम सबसे प्रेम पूर्ण व्यवहार की-आत्मीयता की- अपेक्षा रखते हैं किन्तु यह आत्मीयता पैसे के बदले में नहीं मिलती। प्रेम तर्क से ऊपर है-sipra-rational है।

समग्रता का अर्थ होगा कि हमारी भौतिक आवश्यकता पूरी हों, मानसिक इच्छायें तृप्त हों, हमारा पारस्परिक व्यवहार तर्क सङ्गत हो और हमारे सबसे सम्बन्ध आत्मीयता-पूर्ण हों। इस समग्र दृष्टि का यदि कोई एक भी आयाम उपेक्षित हो जाता है तो हमारा जीवन व्यग्र हो जाता है।

हमन बात चालू की थी विकास से। विकास का अर्थ यदि केवल आर्थिक सम्पन्नता लिया जाये तो स्पष्ट है कि हमारी कलात्मक दरिद्रता, अन्यायपूर्णनीति और व्यवहार की शुष्कता बनी रहेंगी। यही विकास के एकाङ्गी होने का अर्थ है। आर्थिक विकास आवश्यक है। उसक लिये जीवन में अर्थोपार्जन भी आवश्यक है। किन्तु यह आर्थिक विकास जीवन के अन्यतीन आयामों की कीमत पर नहीं होना चाहिये। रोटी, कपड़ा और मकान चाहिये किन्तु केवल रोटी, कपड़े, मकान की दौड़ जीवन को नीरस बना देती है। यह नीरसता हो तनाव का कारण बनती है। जीवन में सरसता भी चाहिये। यह सरसता सदा पैसे से ही नहीं मिलती इसके लिये अर्जन के साथ-साथ विसर्जन भी चाहिये।

जब मनुष्य पदार्थ की अभिप्सा से भर जाता है तो उसमें गुणवत्ता के लिये स्थान नहीं रहता। आज जो गुणवत्ता की न्यूनता दिखायी दे रही है उसका कारण पदार्थ को सब कुछ मान लेना है।

कला के क्षेत्र को देखें। आज से पचास वर्ष पूर्व साहित्यगगन में एक साथ सुमित्रानन्दन पन्त सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, महादेवी वर्मा, जैसे नक्षत्र वेदीप्य मान थे। आज साहित्य गगन सूना है। दूरदर्शन पर जो कला प्रदर्शित की जा रही है, वह आत्म-विहीन-soul less-है।

तर्क के प्रयोग का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान विधान सभा और पार्लियामेन्ट है। वहाँ तर्क के स्थान पर संख्या-बल का प्रयोग हो रहा है।

जीवन में अपनेपन का-आत्मीयता का - अभाव दिन पर दिन बढ? रहा है। पड़ोसी का नाम नहीं जानता। एक दूसरे के दु:ख-सुख में काम आने की प्रवृत्ति समाप्त होती जा रही है। यह सब पैसे से नहीं होता है, बल्कि इसके लिये पैसे का मोह छोड़ना पड़ता है।

मित्रों!

मनुष्य जाति ने एक भूल की। वह अति पर गयी। या तो हमने मान लिया कि पैसा ही जीवन में सब कुछ है। यह एक भूल थी। या हमने मान लिया कि जीवन में सुख प्राप्त करना हो तो पैसे को छोड़ देना चाहिये। यह दूसरी भूल थी।

इस देश ने लक्ष्मी को नारायण की पत्नी माना। अनेक लोगों के नाम ही लक्ष्मीनारायण हैं। यह लक्ष्मीनारायण शब्द बहुत काम का है। लक्ष्मी हो किन्तु उसके साथ भगवत्ता हो। भगवत्ता का अर्थ है आत्मीयता। आत्मीयता का लक्षण है लेने में सुख न मिले, देने में सुख मिले। आपको किसी से लेने में सुख मिलता है तो वह स्वार्थ का सुख है। आपको किसी को देने में सुख मिलता है तो वह परमार्थ का सुख है। स्वार्थ और परमार्थ के बीच सन्तुलन रहे- यह सुख-समृद्धि का सूत्र है। भारत जब विकास के कदम उठाये तो हम इस सूत्र को न भूलें। यदि हम ऐसा कर सके तो हम केवल विकसित देश ही नहीं बनेंगे, दूसरे विकसित देशों के लिये एक आदर्श भी बनेंगे। मैं आशान्वित हूँ कि हम ऐसा कर सकेंगे।

जैन समाज की आर्थिक स्थिति

-प्रोफेसर दयानन्द भार्गव

श्रीयुत जिनेन्द्र कुमार जैन का जिनेन्दु के १० जनवरी क अंक में मुख पृष्ठ पर उपर्युक्त विषय पर प्रकाशित महत्त्वपूर्ण एवं विचारोत्तेजक लेख पढ़कर प्रसन्नता हुई कि उन्होंने एक भ्रान्ति के निवारण के लिये तथ्यपरक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इस विषय में कुछ बिन्दु प्रस्तुत करने का मैं विनम्र प्रयास कर रहा हूँ।

(१) प्रथम तो अमीरी स्वंय में गृहस्थ के लिये कोई बुरी चीज़ नहीं है, बुरा है (i) शोषण करना, (ii) अर्थोपार्जन के लिये रिश्वत देना या लेना तथा कर की चोरी करना, (iii) जमाखोरी, बाजार में कृत्रिम रूप में किसी चीज़ का अभाव पैदा करके अनुचित लाभ उठाना, (iv) अपने पास आवश्यकता से अधिक धन होने पर भी अभावग्रस्त के प्रति कठोरता का भाव रखते हुए उसकी सहायता न करना, (v) धन को साधन न समझ कर स्वयं में ही एक साध्य मान लेना तथा (vi) धनोपार्जन के लिये ऐसे व्यवसाय अपनाना जिनमें अत्यधिक हिंसा होती हो तथा पर्यावरण की अपूरणीय क्षति होती हो। इन सब बुराईयों से बचने का स्पष्ट निर्देश सभी धर्मों में, और विशेषकर जैन धर्म में है। जैन समाज यदि इन बुराईयों से बचकर सम्पन्न-समृद्ध बनने का पुरुषार्थ करता है तो उसकी प्रशंसा ही नहीं होगी, बल्कि अन्य जैनेतर समाजों को भी इससे प्रेरणा मिलेगी और राष्ट्र को विकास का मार्ग भी मिलेगा। किन्तु भ्रष्टाचार द्वारा धनी होने का प्रयत्न न व्यक्ति के लिये प्रशस्त है और न राष्ट्र के लिये हितकर है। जैन समाज आगे आकर व्यवहार में प्रामाणिकता का उदाहरण प्रस्तुत करे। वस्तुतः जैन धर्म की प्रभावना का यही सर्वोत्तम तथा न्याय-संगत उपाय है। मेले ठेले, सेमिनार-कॉन्फ्रेन्स, उत्सव-प्रतिष्ठा तो केवल परिधि पर रहने वाले प्रभावना के साधन हैं, केन्द्रीय साधना तो जैन मतानुयायिओं की व्यावहारिक शुचिता ही है।

(२) गृहस्थ के लिये शुचितापूर्ण अमीरी बुरी नहीं किन्तु प्रमादपूर्ण गरीबी बुरी है। गरीबी और अपरिग्रह में रात-दिन का अन्तर है। गरीबी लाचारी है, अपरिग्रह स्वेच्छिक है। प्रत्येक नागरिक, और जैनग्रहस्थ को भी, गरीबी से उबरने का पुरुषार्थ करना चाहिये। आलस्य, अज्ञान, अकुशलता, रुढिवाद आदि गरीबी के कारणों का निवारण करना चाहिये। किन्तु धनोपार्जन के लिये अनैतिक साधन नहीं

बरतने चाहियें ओर न धनोपार्जन ऐसे ढंग से करना चाहिये शेष तीन पुरुषार्थ-काम, धर्म और मोक्ष-सर्वथा उपेक्षित ही हो जायें। जैन आचार्यों ने, तथा जैनेतर भारतीय दार्शनिकों ने भी, परम पुरुषार्थ तो मोक्ष को ही माना है। धन जीवन-निर्वाह का एक साधन-मात्र है, जीवन का लक्ष्य नहीं है।

(३) श्री जिनेन्द्रकुमार जैन ने जो बात जैनों के धार्मिक अनुष्ठानों के बारे में कही है वह थोड़ी बहुत अन्य सम्प्रदायों के बारे में भी लागू होती है। धार्मिक अनुष्ठानों में महत्त्व ज्ञान और चारित्र को ही सर्वोपरि मिलना चाहिये न कि सत्ता और धन को। उस पर भी जैन परम्परा तो वीतरागता की है। कठिनायी यह है कि किसी भी अनुष्ठान के लिये पैसा तो चाहिये ही। श्री जितेन्द्र कुमार का सुझाव ठीक है कि अर्थ-संग्रह में भी हम मधुकरी-वृत्ति से छोटे बड़े सबसे पैसे का योगदान लें और एक करोड़पति यदि एक लाख देता है और लखपति एक हजार तथा सामान्य व्यक्ति एक सौ, तो उन तीनों का ही महत्त्व बराबर माना जाये क्योंकि दान में त्याग का भाव मुख्य है न कि राशि का परिमाण। ऐसा करना वस्तुत: कठिन है कि हम अधिक पैसा देने वाले को अधिक महत्त्व न दें। सात्त्विक दान देने वाला तो स्वयं ही महत्त्व नहीं चाहेगा, उसे यह आभास है कि यश-प्रतिष्ठा-नाम के लिये दिया गया दान दान नहीं है, अपितु पैसे के बदले प्रतिष्ठा खरीदने का एक व्यापार ही है जिसका आध्यात्मिक महत्त्व शून्य है। तथापि आज की संस्थायें केवल सात्विक दान पर ही चलें- यह निकट भविष्य में तो होता दिखायी देता नहीं, जितना अधिक हो सके उतना श्रेयस्कर है।

अभी हम एक काम कर सकते हैं। साधु को तो सौभाग्य से प्रचुर सम्मान मिल ही रहा है। श्रेष्ठी और राजनेता भी सहज ही सम्मानित हो जाते हैं। कभी-कभी हम यह मान कर अपने को धोखा भी दे लेते हैं कि हम श्रेष्ठी के धन का अथवा राजनेता की शक्ति का नहीं अपितु उनके ज्ञान-चारित्र का सम्मान कर रहे हैं। जैन-परम्परा में व्रतों की दीर्घ एवं सुदृढ परम्परा है। यदि किसी धनी या राजनेता का हम सम्मान करते हैं तो वह श्रावक के बारह व्रतों में से किस किस व्रत का कितनी मात्रा में पालन कर रहा हैं? करणीय यह है कि व्यवहार की दृष्टि से हम भले हो धनिक या राजनेता का भी सम्मान करें किन्तु परमार्थ की दृष्टि से उन गुमनाम स्त्री-पुरुषों को भी सम्मानित करना प्रारम्भ कर दें जो धन अथवा सत्ता के अभाव में समाज की निगाह में नहीं आ पाते हैं किन्तु भगवान् महावीर द्वारा बताये गये श्रावक के बारह व्रतों का पूर्णत: अथवा आंशिक रूप से पालन करते हुए

गृहस्थ-जीवन भी जी रहे हैं। ऐसे श्रावक-गृहस्थों की कोई परम्परा शायद अजैनों में तो नहीं है, किन्तु जैनों में अणुव्रती गृहस्थों की परम्परा आदिकाल से है। जैन इस परम्परा का लाभ उठा कर अणुव्रती गृहस्थों को सम्मानित करें। इससे यह बात सामने आयेगी कि जैनों में सद्गृहस्थों की संख्या बहुत अधिक है; शायक अमीरों की संख्या इतनी नहीं है।

(४) श्री जिनेन्द्रकुमार जैन ने जैन समाज के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, वह बिल्कुल ठीक है। जैन समाज भारतीय समाज का ही हिस्सा है; उसके व्यापारी , किसान तथा नौकरी पेशा वैसे ही धनी अथवा गरीब हैं जैसे अन्य समाजों के। कठिनायी यह है कि भगवान् महावीर ने जितना बल अपरिग्रह पर दिया उतना बल किसी अन्य परम्परा ने नहीं दिया। अत: जैन-समाज में किसी के धनिक होने पर कुछ अधिक ही प्रतिक्रिया हो जाती हे। ऐसी प्रतिक्रिया करना उचित नहीं है। भगवान् महावीर ने तथा अन्य भी किसी परम्परा ने ऊपर सन्दर्भ एक में बतायी गयी सीमा में रह कर किसी गृहस्थ के लिये व्यापार करने का निषेध नहीं किया है। समाज के लिये अन्य व्यवसायों की तरह व्यापार भी अनावश्यक है। अन्य व्यवसायों की अपेक्षा व्यापार में सहज ही अधिक पैसा आता है- व्यापारे वसति लक्ष्मी। यदि जैनों को परम्परा से व्यापार करने की कुशलता कुछ अधिक प्राप्त है तो यह एक भूषण ही है, दूषण नहीं। बस नियन्त्रण अनैतिक साधनों के बरतने पर होना चाहिये। भगवान् महावीर ने अनैतिक साधनों के निषेध पर पूरा बल दिया है। यदि कोई जैन कुल में उत्पन्न होकर भी उन अनैतिक साधनों का उपयोग करता है तो यह तो उस व्यक्ति का दोष है, जैन जीवन-शैली से इसे न जोड़ा जाये।

(५) श्री जिनेन्द्रकुमार जैन की चिन्ता युगानुरूप है। एक समय था कि राजा को ईश्वर माना जाता था और धन को पुण्य का फल समझा जाता था तथा इसलिये धनी का सम्मान होता था। आचार्य महाप्रज्ञ जैसे जैन धर्म-दर्शन के पारङ्गत मनीषी ने स्पष्ट ही गरीबी-अमीरी का पाप-पुण्य से कोई सम्बन्ध नहीं माना है। फिर भी धन एक आवश्यकता तो है ही। धार्मिक संस्थायें आवश्यकता की पूर्ति के लिये धनिकों का मुँह देखती हैं। धनिक बदले में महत्त्व न चाहें-- यह जरा टेड़ी खीर है। ऐसे सभी धनिक आर्थिक दृष्टि से अप्रमाणित न हों-- यह भी कठिन है। कुछ धनी तो धन के बल पर अपने अभिनन्दन ग्रन्थ भी छपवा लेते हैं जिनमें उनको सपरिवार सर्वगुणसम्पन्न घोषित कर दिया जाता है। धनी को ही नहीं , कुछ विद्वानों को भी सम्मान-समारोहों में अतिशयोक्तिपूर्ण विशेषणों से विभूषित कर

दिया जाता है। वक्ता-श्रोता दोनों जानते हैं कि यह केवल एक नाटक है, यथार्थ नहीं। प्रशस्ति-पत्र बनाना एक कला बन चुकी है जिसे वे बना देते हैं जिनका उस व्यक्ति से दूर परे का भी कोई परिचय नहीं होता जिसकी प्रशस्ति लिखनी है। ऐसे पर अतिरिक्त इसके और क्या कहा जा सकता है कि 'माया महान्ठगिनी हम जानी।' मान-कषाय की इस लीला पर हँसने के अतिरिक्त और क्या किया जा सकता? ऐसी अतिशयोक्ति-पूर्ण प्रशस्तियाँ प्राचीनकाल से ही होती रही हैं यह कोई नयी व्याधि नहीं है। इससे जितना बचें शुभ है।

संयम

मनुष्य जीवन का प्रयोजन क्या है ? मनुष्य उत्पन्न होता है, परिवार बनता है, वृद्ध होता है और काला का ग्रास बन जाता है। सामान्य जीवन की यही कथा है। उत्पन्न होने से मृत्यु पर्यन्त मनुष्य सुख पाने की आशा में उचित-अनुचित साधनों से धन इक्ट्ठा करता है। पद-प्रतिष्ठा पाने के लिए भी वह सभी प्रयत्न करता है। सुख -प्राप्ति के अपने इस प्रयत्न में वह चिन्ता भी नहीं करता कि दूसरों को कष्ट होता है या नहीं। मनीषियों ने कहा है कि सुखेच्छा से मनुष्य दारुण कर्म करता है, दूसरों के मर्मस्थल पर चोट करता है। इस प्रकार परिग्रह के संग्रह की इच्छा उसे हिंसक बना देती है।

हिंसा के मूल में परिग्रह की भावना है। हिंसा और परिग्रह के दो पहियों पर चलने वाला जीवन-रथ मृत्यु के अतिरिक्त और कहीं भी नहीं ले जाता। निश्चय ही मृत्यु तो जीवन का प्रयोजन नहीं हो सकती। जीवन का विशेषकर मनुष्य जीवन का प्रयोजन मृत्यु के पार जाना है। मृत्यु से अमृतत्व की ओर जाने की अभिलाषा सभी में है। इस अभिलाषा की पूर्ति कैसे हो- यह खोज जैन दर्शन सहित सभी भारतीय दर्शनों का केन्द्र-बिन्दु ही है। अनेक प्रकार के मतभेद होने पर भी सभी भारतीय दार्शनिक इस विषय में एकमत है कि इन्द्रियलोलुपता जन्म-मरण के चक्र में फंसाती है और इन्द्रियनिग्रह अमृतत्व की प्राप्ति का मुख्य साधन है।

हम परिग्रह का संग्रह मन तथा इन्द्रियों की तृप्ति के लिए ही करते हैं। मन तथा इन्द्रियों की रस-लोलुपता से बचना संयम है। मनुष्य जीवन का प्रयोजन यदि अमृतत्व की प्राप्ति है, तो उसका साधन संयम है। आहार -निद्रा-भय-मैथुन में रत जीवन पशु-जीवन के समान है। क्योंकि ये सब प्रवृत्तियां पशु में भी मिलती है। मनुष्य इनसे ऊपर उठकर मृत्यु को जीत सके- यह मनुष्य जीवन का मुख्य प्रयोजन है। मृत्यु को जीतने का अर्थ है जन्म-मरण के चक्र से छूट जाना । वस्तुतः जन्म और मृत्यु एक ही जंजीर के दो छोर हैं। मृत्यु को जीतने वाले का जन्म भी नहीं होता। इसे ही मोक्ष कहा जाता है।

हमें संसार से इन्द्रियों के विषय-रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द ही बांधे हुए है। जैन शास्त्र कहते हैं कि आंख से रूप देखना निषिद्ध नहीं है, निषिद्ध है रूप में आसक्त होना। यही स्थिति अन्य विषयों की भी है। इन्द्रियां अपने-अपने विषयों का ग्रहण भले ही करें किन्तु मन उन विषयों में आसक्त न हो। यह अनासक्ति भाव ही संयम है। इन्द्रियों के विषयों में सुख मिलता है तो उन विषयों

के प्रति अनासक्ति का भाव कैसे रह सकता है? इस प्रश्न का उत्तर है कि आत्मानन्द के सम्मुख विषय सुख अत्यन्त तुच्छ हैं।

अत: जिसे आत्मानन्द की अनुभूति हो जाती है, उसे विषय-सुख हेय प्रतीत होने लगते हैं । इतना ही नहीं, विषय-सुख आत्मानन्द में बाधक हैं- यह जान लेने पर साधक विषय-सुखों को बाधक ही मानता है।

आत्मा कामधेनु गौ के समान समस्त कामनाओं की पूर्ति करने वाली है- अप्पा कामदुहा धेणू। अपने से बढ़कर न अपना कोई मित्र है, न शत्रु। संयमित आत्मा मित्र है, असंयमित आत्मा शत्रु है। सबसे बड़ा पराक्रम है अपने को संयमित कर लेना- **एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस मे परमो जओ।** जन धर्म बाहर शत्रुओं से युद्ध करने में विश्वास नहीं करता, उसका विश्वास आन्तरिक शत्रुओं को जीतने में है। जैन धर्म केवल निवृत्ति-परक नहीं है, उसमें प्रवृत्ति भी है; असंयम से निवृत्त होना है, तो संयम में प्रवृत्त भी होना है- **असंजमे नियत्ति च, संजमे च पवत्तर्ण।** ज्ञान, ध्यान और तप- ये सब संयम के ही साधन हैं। कषाय विद्वान् और तपस्वी मार्गभ्रष्ट कर देती हैं, सामान्य व्यक्ति की तो बात अत: पूर्ण अप्रमत्त रहना चाहिए। ऋण, घाव, कषाय को छोटा समझकर इनकी कभी भी उपेक्षा नही करनी चाहिए।

क्रोध से प्रीति, मान से विनम्रता तथा माया से .. .. नष्ट होती है, किन्तु लोभ से तो सब कुछ ही नष्ट हो जाता है- लोहो सव्वविणासणो। क्रोध को शान्ति से , ... को विनय से, माया को ऋजुता से तथा लोभ को .. .. से जीतना चाहिए।

संयम अध्याय के मार्ग में तो अनिवार्य है .. .. सांसारिक जीवन भी संयम के बिना कष्ट कर हो.. .. व्यक्ति , परिवार, समाज, राष्ट्र तथा पूरे विश्व में .. ..अनिष्ट अथवा अनर्थ दृष्टिगोचर होता है, उसके .. .. कहीं न कहीं संयम का अभाव ही कारण है।.. ..अभाव में जितना दु:ख होता है, पदार्थ के अभाव .. ..वाला दु:ख उसके सामने कुछ भी नहीं है। बड़ा.. .. यह है कि यदि संसार संयम का मार्ग अपना ले, ... के अभाव का सङ्कट स्वत: ही दूर हो जाएगा।

कर्म और अकर्म

जिस प्रकार विज्ञान में कारण-कार्य सम्बन्ध का महत्व है उसी प्रकार दर्शन के क्षेत्र में भी कारण-कार्य सिद्धान्त का अत्यन्त महत्व है। जब तक कारण-कार्य सम्बन्ध स्थापित न किया जा सके, तब तक कोई सिद्धान्त बुद्धिसङ्गत सिद्ध नहीं होता। भारतीय चिन्तन में इस कारण-कार्य सिद्धान्त ने ही कर्मवाद: के सिद्धान्त को जन्म दिया। जैन धर्म ने तो कर्म और कर्मफल को अपने धर्म-दर्शन में केन्द्रीय स्थान दिया है।

यदि कर्म है तो कर्मफल भी है और यदि कर्मफल है तो पुनर्जनम भी है। पुनर्जन्म होता है- यह मानने पर ही आवागमन के चक्र से छुटकारा पाने की इच्छा अर्थात् मोक्ष की इच्छा उत्पन्न होती है। जहां पुनर्जनम की स्वीकृति नहीं है, वहां मोक्ष की अवधारणा भी नहीं हो सकती।

मोटे तौर पर यह समझ लिया जाता है कि कर्म करेंगे तो उसका फल भोगना पड़ेगा आर कर्म का फल भोगना पड़ेगा तो जन्म भी लेना पड़ेगा। अत: यदि जन्म-मरण के चक्र से छूटना हो तो कर्म को छोड़ देना चाहिए। यह समझ एक दृष्टि से गलत नहीं है, किन्तु इसे ठीक तरह से न समझने के कारण, इस देश का बहुत अनिष्ट भी हुआ है।

पहले हम ये देखें कि आचार्य कुन्दकुन्द अथवा यशोविजय जैसे जैन आचार्य हों अथवा धर्म कीर्ति तथा शङ्कराचार्य जैसे जैनेतर आचार्य हों- इन सभी मोक्षवादी आचार्यों के जीवन में प्रखर कर्मठता दिखाई पड़ती है। बिना कर्मठ जीवन के इतना गम्भीर वैदुष्यपूर्ण विशाल साहित्य रचा ही नहीं जा सकता। तो क्या ये प्रात: स्मरणीय आचार्य मोक्ष मार्ग से भटक गए थे? एसी कल्पना करना तो दु:साहस-मात्र ही होगा। तो फिर इन्होंने बन्धन का हेतु जानकर भी कर्म को क्यों अपनाया?

इस यक्ष प्रश्न का उत्तर तब मिलेगा जब हम कर्म और अकर्म के स्वरूप को ठीक से जान लें। यह सच है कि जैन धर्म के अनुसार कर्म जन्म-मरण का कारण है और जन्म-मरण दु:ख का कारण है- कम्मं च जाईमरणस्स मूलं जोईमरणंच दुक्खंवयन्ति। इस प्रकार परम्परा से कर्म ही दु:ख का मूल हुआ। किन्तु यह सत्य का एक पक्ष है। सत्य का दूसरा पक्ष यह है कि कर्म का बीज राग और द्वेष है तथा कर्म को मोह से उत्पन्न माना जाता है— **रागो य दोसो वि च कम्मवीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयन्ति।** सत्य के दोनों पक्षों का समन्वय करें तो निष्कर्ष यह निकलेगा

कि मोह तथा राग-द्वेष वश किए गए कर्म दु:ख का कारण हैं अथवा कहना चाहिए कि बन्धन का कारण हैं।

प्रश्न यह हुआ कि क्या मोह तथा राग-द्वेष के बिना भी कर्म हो सकता है? जैन धर्म की दृष्टि से तीर्थङ्कर के जीवन को देखें। केवल ज्ञान होने पर उनमें राग-द्वेष अथवा मोह तो नहीं ही रहा- यह स्पष्ट है। फिर भी वे तीर्थ की स्थापना करते हैं, इसीलिए तो तीर्थङ्कर कहलाते हैं। तो क्या तीर्थ की स्थापना बिना कर्म के हो जाएगी? विद्वान अपनी शङ्कायें तीर्थङ्करों के सम्मुख रखते हैं, तीर्थङ्कर उन शङ्काओं का निवारण करते हैं। ये विद्वान तीर्थङ्करों के प्रमुख शिष्य बनकर गणधर कहलाते थे। समवसरण में तीर्थङ्कर धर्म की देशना करते हैं। स्पष्ट है तीर्थङ्करों के ये सब कर्म बिना राग-द्वेष तथा मोह के होते हैं।

जैनेतर परम्परा में जीवन्मुक्त की अवधारणा को लें। जीवन्मुक्त सभी दोषों से मुक्त है फिर भी जीवन धारण करने के लिए सभी अनिवार्य कर्म करता है। ये कर्म उसे बांधते नहीं।

स्पष्ट है कि जैन तथा जैनेतर-दोनों परम्पराओं में एक ऐसी स्थिति स्वीकार की गई है जहां कर्म बन्धन का कारण नहीं बनता। यह कर्म भी अकर्म ही है- **ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किन्न कुरुते तन्नैव जानीमहे।** समयसार की आत्मख्याति टीका के कलश में कहा गया है कि ज्ञानी क्या करता है और क्या नहीं करता- यह हम अल्पज्ञ नहीं जान सकते। ज्ञानी जब हमारी दृष्टि में कुछ भी नहीं कर रहा होता है तब भी स्वरूप में विचरण कर रहा होता है। यही तो निश्चय चरित्र है- **स्वरूपे चरणं चारित्रम्।**

गीता कहती है कि पण्डित वह है जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म को देखता है। जिन प्रात: स्मरणीय आचार्यों का हमने ऊपर उल्लेख किया है, वे कर्म करते हुए भी उसमें लिप्त नहीं होते थे।

स्वाध्याय कैसे करें

-अनुयोगद्वार के आलोक में-

अनुयोगद्वार में किसी दार्शनिक सिद्धान्त-विशेष का प्रतिपादन नहीं है अपितु किसी भी शास्त्र को कैसे पढ़ना चाहिये-इसकी पद्धति बतायी गयी है। छात्र हो, शोध छात्र हो, अध्यापक हो अथवा मुमुक्षु गृहस्थ अथवा साधु भी क्यों न हो- स्वाध्याय सभी के लिए अपरिहार्य है। इसके कुछ मुमुक्षु अपवाद हो सकते हैं किन्तु इससे इस नियम में कोई बाधा नहीं आती कि लौकिक अथवा लोकोत्तर ज्ञान के लिये स्वाध्याय एक उत्तम साधन है और ज्ञान लौकिक अथवा लोकोत्तर सफलता का अचूक साधन है। अस्तु, देखना यह है कि स्वाध्याय कैसे करें।

१. किसी ग्रन्थ के अर्थ समझने की प्रक्रिया का नाम अनुयोग है। कह सकते हैं कि जो शब्द को अर्थ से जोड़े वह अनुयोग है।

२. अनुयोग के पर्यायवाची हैं- भाष्य, विभाषा और वार्तिक। भाष्यकार का काम ऐसा ही है जैसे फर्नीचर बनाने के लिये लकड़ी को छीलना। विभाषा के अन्तर्गत उस लकड़ी में कील आदि के समान कुछ जोड़ने का कार्य किया जाता है। और वार्तिककार उसे फर्नीचर का अन्तिम रूप दे देता है। अभिप्राय यह हुआ कि हमारे सामने स्वाध्याय के लिये जो भी सामग्री आती है वह यथावत् ग्रहण नहीं की जानी चाहिये। उसमें से कुछ निकाल कर तथा कुछ जोड़कर अपना अभिप्राय सिद्ध करना होता है। यह पद्धति निकालने तथा जोडने की स्वतन्त्रता देकर हमारे स्वाध्याय को **'मक्षिकास्थाने मक्षिका'** की लोकोक्ति के अनुसार यान्त्रिक होने से बचाती है। इसे ही उक्त-अनुक्त-दुरुक्त की चिन्ता कहा जाता है। यह आलोचनात्मक स्वाध्याय की प्रक्रिया है। यह शोध-पद्धति का मूल है। यदि शोधकर्ता यह नहीं कर सकता तो वह सङ्ग्राहक हो सकता है, अनुसन्धाता नहीं। जोड़ने, निकालने की प्रक्रिया से ज्ञान आगे बढ़ता है। इसके लिये स्वाध्यायी को बहुश्रुत, तटस्थ, तथा तर्क बुद्धि सम्पन्न होना चाहिये। अल्पश्रुत व्यक्ति न निकालने योग्य को निकाल कर तथा न जोड़ने योग्य को जोड़कर मूल की श्री वृद्धि करने के स्थान पर श्री हानि कर देगा- **बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति।**

३. ज्ञान के पाँच भेद हैं- मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यव तथा केवल। इनमें श्रुत ज्ञान ही दूसरों से प्राप्त होता है, शेष चार ज्ञान तो स्वयं ही प्राप्त किये जाते हैं। अतः ठीक या गलत समझने की समस्या श्रुत ज्ञान के ही सन्दर्भ में है।

४. पहले जिस भी ग्रन्थ का स्वाध्याय करें उसके शीर्षक तथा उपशीर्षक -- आज की भाषा में विषय सूचि- ध्यान से देखने चाहिये क्यों कि इनमें ग्रन्थ का सार छिपा रहता है। अनेक बार विषय सूचि- ध्यान से देखने चाहिये क्यों कि इनमें ग्रन्थ का सार छिपा रहता है। अनेक बार शीर्षक भ्रामक भी हो सकता है। कई बार लेखक अथवा प्रकाशक अपनी पुस्तक का नाम ऐसा आकर्षक रख देते हैं कि खरीददार शीर्षक पढ़कर ही पुस्तक खरीद लेता है। यह उपभोक्ता संस्कृति की देन है। प्राचीन काल में ग्रन्थों के नाम विषयानुसार ही होते थे जैसे आचाराङ्ग में आचार का ही वर्णन है। कई ग्रन्थों के नाम उस ग्रन्थ की किसी एक विशेषता के आधार पर हो तथा जैसे - दश वैकालिक। ग्रन्थ का भ्रामक नाम रखना खरीददार अथवा पाठक को धोखा देना है। पाठक ऐसे धोके में न आये। एक और धोका 'सम्मति' के नाम पर चलता है। किसी भी लेखक की कृति पर बड़े-बड़े विद्वान् अतिशयपूर्ण विशेषणों की भरमार कर देते हैं। विद्वान् ऐसा उदारतावश कर सकते हैं किन्तु पाठक को अपने विवेक से काम लेना चाहिये, बड़े बड़े नामों के प्रभाव में नही आना चाहिये, अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से निर्णय लेना चाहिये।

५. एक महत्त्वपूर्ण दृष्टि है- द्रव्य तथा भाव की। हम किसी भी शब्द अथवा वाक्य का शब्दार्थ ही पकड़ते हैं याभावार्थ तक भी पहुँचते हैं। हमारा स्वाध्याय तो तारटन्त ही है या जिस वाक्य को हम पढ़ते हैं उसकी तह तक भी पहुँचते हैं। शब्द एक सङ्गत है; उस सङ्गत से जो कहा जा रहा है वह बहुत गम्भीर हो सकता है। अच्छे लेखकों के शब्द सरल और सीमित होते हैं किन्तु भाव गम्भीर होता है। उस भाव को पकड़ने का अभ्यास करना चाहिये। इससे बुद्धि का विकास होता है। कई लेखकों के पास विचारों का तो दारिद्रय रहता ह किन्तु उसकी पूर्ति वे शब्दाडम्बर से करते हैं हम भूल से ऐसे ग्रन्थों को महत्त्वपूर्ण मान लेते हैं तथा सरल ग्रन्थों की उपेक्षा कर देते हैं। नियम यह है कि सत्य सदा सरल होता है।

विशेषकर आगम ग्रन्थ अत्यन्त सरल हैं किन्तु उनका आशय अत्यन्त गम्भीर हैं। जिन्हें चटपटी भाषा की चाट लग गयी है वे आगम साहित्य को पढ़ रही नहीं पाते। स्वाध्याय का प्रयोजन आत्म-कल्याण है, पाण्डित्य-प्रदर्शन नहीं। मध्य युग में हमारे आचार्य पाण्डित्य -प्रदर्शन में पड़े तो मौलिकता का अकाल सा ही पड़ गया। सत्साहित्य पढ़ने का अभ्यास करें।

६. साहित्य तीन प्रकार का है। पहला साहित्य अपने विषय से सम्बद्ध होता है। मुमुक्षु के लिये आगम ऐसा ही साहित्य है। दूसरा साहित्य अपने विषय के विपरीत होता है। मुमुक्षु के लिये अश्लील साहित्य ऐसा ही है। तीसरा साहित्य तटस्थ प्रकार का होता है। सुरुचिपूर्ण ललित साहित्य ऐसा ही है। स्वाध्याय में प्रथम प्रकार के साहित्य को मुख्यता देनी चाहिये, दूसरे साहित्य का वर्जन करना चाहिये तथा तीसरे साहित्य को आनुषङ्गिक रूप में पढ़ना चाहिये। एक चौथे प्रकार का साहित्य भी उपादेय है जो प्रथम प्रकार के साहित्य का उपकारी है, यथा–विज्ञान सम्बन्धी साहित्य ।

स्वाध्याय के लिये साहित्य का विभाजन करके स्वाध्याय का क्रम निर्धारित करना चाहिये कि किस साहित्य को कितना समय देना है।

७. जिस विषय का हमें ज्ञान प्राप्त करना है उस विषय के जानकार का बहुत महत्त्व है। केवल पुस्तक पढ़कर अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो सकती हैं क्योंकि पुस्तक जड़ है, उनसे हम शङ्का–समाधान नहीं कर सकते। विषय के जानकारों को चेतन–पुस्तक कहा जाता है। उन जानकारों से यथा सम्भव अपने विषय की चर्चा करें। गोष्ठी का यही अर्थ है। यह चर्चा एक–एक से भी हो सकती है और समूह में भी।

८. ज्ञान क्रिया के बिना भार है– ज्ञानं भार: क्रियां बिना। हम जो पढ़ें उसे क्रियान्वित करें। फल क्रिया का ही होता है। ज्ञान तो क्रिया में सहायक है। जब तक हमारा स्वाध्याय हमारे जीवन का अङ्ग न बने। तब तक वह तेजस्वी नहीं हो सकता। जैसे ही हम स्वाध्याय को स्वानुभव से मिलाते हैं, स्वत: ही नये–नये विचार सूझने लगते हैं। कुछ लोग इस हीनता की ग्रन्थि से ग्रस्त हैं कि इतने बड़े–बड़े लेखकों के सामने भला हम क्या नया कह सकते हैं। लेखक कितना ही बड़ा हो, जीवन से छोटा ही रहता है। जीवन इतना व्यापक है कि उसके बारे में कुछ न कुछ मौलिक देने का अवकाश सदा ही बना रहता है।

आभामण्डल के आलोक में

साधना क्यों और कैसे

चुम्बक अपने चारों ओर एक विशेष दूरी तक फैले हुए लोहकणों को अपनी ओर खींच लेता है। जितने क्षेत्र तक के लोहकणों को एक चुम्बक खींचता है उतनी दूरी तक उस चुम्बक का चुम्बकीय-क्षेत्र कहलाता है। इस चुम्बकीय क्षेत्र का अस्तित्व तो इसी बात से नि:सन्दिग्ध रूप में प्रभावित हो जाता है कि उस चुम्बकीय क्षेत्र में स्थित लोहकण स्वत: खींचकर चुम्बक से चिपक जाते हैं। किन्तु इस चुम्बकीय क्षेत्र का कोई स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण किसी इन्द्रिय से प्रतीत में नहीं आता। चुम्बकीय क्षेत्र का अस्तित्व नि: संदिग्ध है, किन्तु उसका ज्ञान किसी इन्द्रिय से नहीं होता। न स्पर्शेन्द्रिय से उसका स्पर्श किया जा सकता है, न जिह्वा से उसे चखा जा सकता है, न नाक से उसे सूंघा जा सकता है और न आंख से उसे देखा जा सकता है। केवल लोहकणों को आकृष्ट करने के प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले कार्य से चुम्बकीय क्षेत्र रूपी परोक्ष कारण का अनुमान होता है। दैनन्दिन जीवन के अनुभव में आने वाले इस उदाहरण से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि अस्तित्व में एक ऐसा भी सूक्ष्म तत्व है जो इन्द्रिगोचर नहीं है।

इन्द्रियां सूक्ष्म को क्यों नही पकड़ पाती? इसका उत्तर यह है कि 'इन्द्रियां स्थूल है और स्थूल माध्यम स्थूल को ही पकड़ पाता है।' (आभामण्डल, पृ.४)

हमने अभी चुम्बक के चम्बकीय क्षेत्र की चर्चा की । यह जड़जगत की घटना है। चेतन-जगत को देखें तो प्रतिदिन के व्यवहार में हम किसी व्यक्ति विशेष से विशेष रूप में आकृष्ट हो जाते हैं। इस आकर्षण का कारण कभी-कभी तो समझ में आता है, उदाहरणत: कोई व्यक्ति बहुत प्रसिद्ध है इसलिए हम उसकी ओर आकृष्ट होते हैं, विद्वत्ता, वैभव, सुन्दरता आदि अनेक कारण हमारे आकर्षण का निमित्त बनते हैं। किन्तु हमारा आकर्षण सदा सकारण ही नहीं होता। हम अनेक बार अकारण भी किसी व्वयक्ति के प्रति आकृष्ट अनुभव करते है। प्रसिद्ध, विद्धत्ता, वैभव और सुन्दरता आदि वस्तुत: निमित्त है; हमारे आकर्षण का उपादान कारण कुछ और ही है। संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककारण भवभूति ने लिखा कि दो व्यक्तियों को जोड़ने वाला हेतु तो कोई आन्तरिक है, प्रसिद्धि आदि वाह्य उपाधियां व्यक्ति से जोड़ने का कारण नहीं-

व्यतिषजति पदार्थान् आन्तरः कोऽपि हेतुः।
न हि बहिरूपाधीन् प्रीतयः स्ंश्रयन्ते।।

भवभूति ने यहां मनुष्य को मनुष्य से जोड़ने वाले तत्व का नाम प्रीति दिया है। प्रीति का ही दूसरा नाम राग है। इसे ही काम भी कहते है। प्रीति साहित्य का शब्द है, राम अध्यात्म का शब्द है, काम मनोविज्ञान का शब्द है। मनोविज्ञान की परिभाषा में इसे ही लिबिडो कहा जाता है। भवभूति ने जिसे प्रीति का आन्तरिक हेतु बताया है वह आन्तरिक हेतु व्यक्ति का वह चुम्बकीय क्षेत्र है जिसे जड़ के सन्दर्भ में विद्युत-चुम्बकीय क्षेत्र कहा जाता है और चेतन के सन्दर्भ में उसे आभामण्डल कहा जाता है। काम, राग- ये सब विद्युत के साथ जुड़े हुए हैं। यह सब विद्युत का ही चमत्कार है। राग क्या है? एक व्यक्ति की विद्युत् सामने वाले व्यक्ति की विद्युत से संयुक्त ही होती है। दोनों का संयोग होता है और राग निर्मित हो जाता है (आभामण्डल, पृ. १३५)

जैसे चुम्बकीय क्षेत्र की सूक्ष्मता उसे इन्द्रिय गोचर नहीं होने देती वैसे ही चेतन का आभामण्डल भी सूक्ष्मता के कारण इन्द्रिय गोचर नहीं होता। विज्ञान की कृपा से आज ऐसे अनेक तत्त्व जो इन्द्रियों की प्राकृतिक शक्ति से परे थे यन्त्रों की सहायता से स्थूल बनकर इन्द्रिय का विषय बनने लगे हैं। आभामण्डल भी एक ऐसा ही तत्त्व है। इमने जड़ के विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र की चर्चा की और चेतन के आभामण्डल की चर्चा की। विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्र और आभामण्डल दोनों के लिए यदि एक समान शब्द का प्रयोग करना चाहें तो अंग्रेजी का शब्द ''ओरा'' प्रयोग में लाया जा सकता है। प्रश्न होता है जड़ और चेतन के ओरा में क्या अन्तर है? यह सच है कि पदार्थ में अजीव में भी ओरा होती है। किन्तु उसकी ओरा निश्चित होती है, वह बदलती नहीं। जीव की ओरा अनिश्चित होती है, बदलती रहती है (आभामण्डल, पृ.३५)। जीव की ओरा स्वत: बदलती रहती है किन्तु जीव अपनी ओरा को अपनी इच्छा से भी बदल सकता है। इसी को हम मनुष्य की इच्छा-शक्ति का स्वातन्त्रय कहते हैं। यह इच्छा-शक्ति का स्वातन्त्रय ही मनष्य को सृष्टि का सिरमौर बनाता है। क्योंकि मनुष्य यदि अपने आभामण्डल को बदल ले तो वह स्वयं बदल जाता है। आभामण्डल के बदलने का क्या अर्थ है? इसकी चर्चा हम सभी करेंगे किन्तु उससे पहले हम इतिहास में देखें कि इस आभामण्डल की खोज कितनी परानी है।

ने अपनी पुस्तक के पृ. १६-१७ पर आभामण्डल की खोज का इतिहास दिखाया है। उनके अनुसार ईसा से ५००० वर्ष पूर्व भारत में आभामण्डल को ''प्राण'' नाम से जाना जा सकता है। प्रमुख चैतन्य केन्द्रों का विवरण इस प्रकार है-

चैतन्य केन्द्रों की यह प्रेक्षा मूलतः आधि अर्थात् मानसिक रोग की चिकित्सा करती है किन्तु क्योंकि आधि ही शारीरिक व्याधि में बदलती है इसलिए आधि की चिकित्सा के साथ व्याधि की चिकित्सा भी हो जाती है।

आधि अर्थात् मानसिक रोग मन में आवरोध उत्पन्न होने से पैदा होते है। मन के अवरुद्ध होने का कारण है- मूर्च्छा। मूर्च्छा को तोड़ने का उपाय है- ध्यान। जैसे ऊर्जा घनीभूत होकर पदार्थ में बदल जाती है वैसे ही मूर्च्छा घनीभूत होकर मूढ़ता में बदल जाती है। इस मूढ़ता की स्थिति में व्यक्ति अपने आपको चेतन आत्मा न समझकर जड़ शरीर समझने लगता है इसके दो परिणाम होते है- एक तो व्यक्ति शरीर के दुःख, सुख को अपना सुख, दुःख मानने लगता है। अपने आपको शरीर मानना अहंकार है। यही मान कषाय का मूल है। पदार्थ को अपना मानना ममकार है। यही लोभ कषाय का मूल है इन दो कषायों की पूर्ति के लिए मनुष्य माया का सहारा लेता है और फिर भी सफल नहीं होता तो क्रुद्ध होता है। ध्यान की प्रक्रिया देहाभिमान को तोड़ती है। अहंकार जाता है तो ममकार चला जाता है और ममकार चला जाता है तो लोभ चला जाता है। इस प्रकार ध्यान आधि के मूल कषाय पर चोट करता है।

आधुनिक विज्ञान की खोज के अनुसार समस्त विश्व स्पन्दित है। क्वाण्टम सिद्धान्त के अनुसार पूरा विश्व ऊर्जा समूह से निर्मित है। हमारा शरीर भो निरन्तर स्पन्दनशील है। शरीर प्रेक्षा के अन्तर्गत शरीर होने वाले इस स्पन्दण को देखा जाता है। हमारे शरीर में होने वाली कुछ क्रियाएं स्वतः संचालित हैं। ये क्रियाएं ही हमारे संवेगों को नियन्त्रित करती हैं। यदि इन क्रियाओं का हम नियन्त्रण नहीं कर पायें तो हमारा जीवन यन्त्रवत चलता रहता है एक कर्म उदय में आता है वह अन्तः स्रावी ग्रन्थियों को प्रभावित करता है उस स्राव से हमारा भावतन्त्र प्रभावित होता है और भावतन्त्र से हमारी शारीरिक क्रियाएं संचालित होती हैं। इस सारी प्रक्रिया में हम पराधीन है। इस पराधीनता से छुटकारा पाने का प्रारम्भ तब होता है जब हम खास जैसी स्वतः संचालित क्रिया को संयम द्वारा दीर्घ, मन्द और सूक्ष्म बना देते हैं। तब सारी मनः स्थिति बदल जाती है।

शरीर की दृष्टि से मनुष्य अनक पशुओं की अपेक्षा निर्बल है। उसका वास्तविक बल बुद्धि है । बुद्धि का सम्बन्ध नाड़ी संस्थान से है। हमारी नाड़ी संस्थान का अस्सी प्रतिशत भाग सुप्र रहता है। इसे जगा देना ही जागरण है। आत्मा का दर्शन अंतिम है। आत्मा तक पहुंचने का एक क्रम ह। प्रथम स्पन्दन को देखना होता है । फिर सूक्ष्म परिणमनों को, उन परिणमनों से उत्पन्न रसायन और विद्युत को, तदनन्तर सूक्ष्म शरीर को, और फिर संस्कार को, अन्त में आत्म दर्शन

होता है। बौद्ध दर्शन जैसे दर्शनों ने श्रणभंगुरता की चर्चा की है। आज ऐसे कैमरे आविष्कृत हो गये है जो एक सैकण्ड में साठ करोड़ फोटो लेते हैं अर्थात् एक सैकण्ड के १/२००० करोड़ वें भाग में होने वाले परिवर्तन को पकड़ सकते हैं। हमारी पकड़ में परिवर्तन नहीं आता यही मूच्र्छा है। विज्ञान ने आभामण्डल को ही पकड़ा है, यह आभामण्डल तैजस शरीर का विकिरण है। शरीर की स्थिरता होने पर तैजस शरीर और कार्मण शरीर के स्पन्दन दिखाई देने लगते हैं। शास्त्र में इसे ही अपूर्वकरण कहा गया है।

जब शरीर का कोई भाग दुर्घटना ग्रस्त हो जाता है तो हम उसे प्लास्टर द्वारा स्थिर कर देते हैं। इससे शरीर में होने वाली टूट-फूट ठीक हो जाती है। कायोत्सर्ग भी शरीर का स्थिरीकरण है। इसके द्वारा शरीर की टूट-फूट ठीक होती है।

आचार्य महाप्रज्ञ ने अध्यात्म की दृष्टि से विज्ञान का आधार लेकर ऐसे अनेक विचार प्रस्तुत किये हैं किन्तु इससे भी अधिक क्रान्तिकारी विचार उनके समाज के बारे में है। सदियों से पूरा भारतीय समाज कर्म सिद्धान्त को मानता रहा है और जीवन की प्रत्येक घटना का कारण कर्म में ढूंढता रहा है इसका एक फल भाग्यवाद हुआ। आचार्य महाप्रज्ञ ने प्रथम बार यह घोषणा की कि प्रत्येक घटना का कारण कर्म नहीं है। सम्यक् दर्शन की प्राप्ति कर्म के कारण नहीं होती। अनेक घटनाओं का कारण व्यवस्था है कर्म नहीं है। किसी व्यक्ति के पास धन है यद्यपि वह योग्य भी नहीं है और परिश्रमी भी नहीं है। किसी व्यक्ति के पास योग्यता और परिश्रम होते हुये भी धन नहीं है यह सब व्यवस्था का परिणाम है, पाप-पुण्य का नहीं। यह सच है कि पाप-पुण्य, सुख-दुःख का कारण है किंतु धन का अभाव दुःख का अथवा धन की बहुलता सुख का कारण नहीं है। भले ही वे दुःख सुख में निमित्त बन जाएं। इसका अर्थ यह है कि अनेक समस्याओं का मूल कर्म में नहीं व्यवस्था में हैं।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि व्यक्तिगत स्तर पर हमें कर्म का परिष्कार करना चाहिये किन्तु सामूहिक स्तर पर व्यवस्था को भी बदलना चाहिये। कर्म के परिष्कार का सम्बन्ध हृदय-परिवर्तन से है। व्यवस्था बदलना सत्ता का काम है। दोनों का सामञ्जस्य ही है परिपूर्णता लाता है। आचार्य महाप्रज्ञ का यह चिंतन कर्मवाद पर आने वाले सभी आक्षेपों का उत्तर देता है।

अनेकान्त का प्रयोग दर्शन के क्षेत्र में तत्व ज्ञान का विचार करने के लिए होता रहा । आचार्य श्री ने अनेकान्त को तत्त्व ज्ञान के स्तर पर रखते हुये भी व्यवहार तथा साधना के स्तर पर भी विवेचित किया। व्यवहार के स्तर पर अनेकान्त का अर्थ होगा-विरोधी का सम्मान, विरोध में सौन्दर्य का दर्शन, समाज

सापेक्ष स्वतन्त्रता, समग्र दृष्टि और अनाग्रह । यह अनेकान्त की समाजपरक व्याख्या है। जिसमें बात का उत्तर निहित है कि भारतीय चिंतन केवल व्यक्ति परक है समष्टि परक नहीं।

आचार्य महाप्रज्ञ एक सम्प्रदाय के आचार्य है लेकिन साम्प्रदायिक नहीं। उनका यह गुण उन्हें सर्वग्राह्य बना देता है। उन्होंने स्पष्ट घोषित किया कि मेरे सम्प्रदाय में आने पर ही मुक्ति संभव है ऐसा कहना साम्प्रदायित उन्माद है। यह कहना भी ठीक नहीं है कि साधु ही मुक्त हो सकता है गृहस्थ नहीं। उन्होंने राम और महावीर को भारतीय संस्कृति के महारथ के दो चक्र बताकर सम्प्रदायों के बीच समन्वय का मार्ग प्रशस्त किया।

आचार्य महाप्रज्ञ ने धम को समाज से उत्पन्न होने वाला तत्त्व माना। शून्य से उत्पन्न होने वाला नहीं। व्रतों की निष्पत्ति समाज में ही होती है यह कहकर उन्होंने धर्म को सामाजिक रूप दिया।

आचार्य महाप्रज्ञ ने हमारा ध्यान उस ओर दिलाया कि धर्म के मूल्य और नियम शाश्वत है किंतु उसका व्यावहारिक रूप समय के साथ बदलता है। यह कहकर आचार्य महाप्रज्ञ ने धर्म को रूढ़िवाद की कारा से मुक्त किया। उन्होंने अपने उपास्य भगवान महावीर के जीवन को अविश्वसनीय घटनाओं को प्रतीकात्मक रूप से इस रूप में व्याख्यायिन किया कि वे आधुनिक विचारक के लिए ग्रह्य बन गयी।

इस प्रकार हम देखते है कि आचार्य महाप्रज्ञ ने पुरातन की युगीन व्याख्या की। जहां कहीं साम्प्रदायिकता अथवा अन्धी श्रद्धा का कोहरा सत्य को ढ़के हुये था उन्होंने निर्भय होकर उसका विरोध किया। अनेकान्त की दृष्टि होने के कारण उन्होंने सत्य के उस पक्ष को भी उजागर किया जो अब तक परम्परा की दृष्टि से ओझल हो गये थे। दर्शन के उपासक होने पर भी उन्होंने विज्ञान के महत्व को पूरी तरह स्वीकार किया। निवृत्ति परक परम्परा में रहने के बावजूद उन्होंने समाज और व्यवस्था के महत्त्व को स्वीकार किया। इतिहास के आलोक में देखें तो यह सब कुछ बहुत नवीन है। विचार और आचार में परम्परा से इतना गहरे जुड़े होने पर भी प्रगतिशीलता, उदारता और तटस्थता को सर्वोच्च महत्त्व देना आचार्य महाप्रज्ञ के लिए इसलिए संभव हुआ कि उनके मत में दो विरोधी धर्म एक साथ रह सकते हैं। उनका युग को विशिष्ट योगदान है और वे वस्तुतः युग प्रधान है।

जैन प्रमाणमीमांसा

काल के पटल का न आदि है न अन्त । इस काल के पटल पर विचार का जन्म कब हुआ यह भी अज्ञात है । इतना अवश्य है कि जीवों की जिन अनेकानेक जाति-प्रजातियों से हम परिचित हैं उनमें मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो अपनी विचारक्ता के कारण अन्य प्राणियों से विशिष्ट सिद्ध होता है।

जब मनुष्य ने अपनी विचारशक्ति का उपयोग अस्तित्व के भेद को उद्घाटित करने के लिये किया तो उसने यह पाया कि पूरा अस्तित्त्व एक ऐसा रहस्य है जिसे जान पाना उसकी विचार शक्ति के वश की बात नहीं है। आस्तित्त्व की यह रहस्यात्मकता जैसी पूर ब्रह्माण्ड में है वैसी ही एक परमाणु में है। जैसी अन्तर्जगत् के सन्दर्भ में है वैसी ही बहिर्जगत् के सन्दर्भ में है और न अपने मन की अतल गहराईयों को समझ पाता है। फिर भी मनुष्य ने अपनी पराजय स्वीकार नहीं की। वह निरन्तर आस्तित्त्व के रहस्य से जूझता रहा है। उसकी यह उद्दाम जिज्ञासा इतनी प्रखर थी कि सत्य को जानने की इच्छा की पूर्ति के लिये उसने अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया। इतिहास के पृष्ठों पर भले ही कुछ ऐसे व्यक्तियों के नाम मिल जायें जिन्होंने साम्राज्य के लिये हो युद्ध लड़े किन्तु स्वर्णाक्षरों में इतिहास में उन्हीं का नाम लिखा गया जिन्होंने सत्य को जानने के लिये अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया। सिकन्दर से लेकर लॉर्ड क्लाइव तक योद्धाओं के नाम इतिहास में हैं पर जो गरिमा कृष्ण, महावीर, बुद्ध और गांधी के नाम को प्राप्त है उस गरिमा के पीछे बड़े से बड़े सम्राट के नाम भी फीके पड़ जाते हैं।

अस्तित्त्व के रहस्य को उद्घाटित करने का हमारे पास एक ही साधन है- ज्ञान। यही हमारी सबसे मूल्यवान् संपत्ति है। प्रस्तुत ग्रन्थ जैन परम्परा का है। इस परम्परा के आदि पुरु ष भगवान् ऋषभ देव से लेकर अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर तक के सभी तीर्थंकरों को ही नहीं अपितु सभी परिपूर्णता प्राप्त करने वाले साधकों को केवल ज्ञानी की गौरवमयी संज्ञा से अभिहित किया जाता है। केवल ज्ञान का अर्थ है- वह ज्ञान जो अस्तित्त्व के रहस्य को पूर्णत: जान ले, जिसे जानने के लिये कुछ भी शेष न रह जाये, जो विदित वेदितव्य हो। सत्य के सभी अनुसंधाताओं का चरम लक्ष्य यह केवलज्ञान ही है अथवा यह कहना चाहिये कि सत्य का अनुसंधाता जब ज्ञान के अंतिम पड़ाव पर पहुंचता है तब केवलज्ञान कहलाने लगता है। परमार्थत: यह केवलज्ञान ही प्रमाण है क्योंकि अर्थ का पूर्णत: सम्यग् निर्णय तो यही कर पाता है और अर्थ का सम्यग् निर्णय ही प्रमाण है।

इतिहास में जब तक केवल ज्ञान की परम्परा अविच्छिन्न रहो तब तक प्रमाण शास्त्र का जन्म नहीं हुआ क्योंकि तब तक सत्य को साक्षात् ज्ञान के द्वारा लिया जाता था और यह केवलज्ञान साधना का फल था, वैचारिक ऊहापोह का नहीं। काल के प्रभाव से जब साधना इतनी बलवती न रह पायी कि केवल ज्ञान का स्पर्श कर सके तब सत्य के अनुसंधाताओं के पास विचार विमर्श ही सत्य को जानने का एकमात्र साधन शेष रह गया। विचार विमर्श चला तो विचार विमर्श के नियम बनना भी अपरिहार्य था। विचार विमर्श के ये नियम ही प्रमाण शास्त्र के निर्माण का आधार बने। इस प्रकार प्रमाण शास्त्र केवलज्ञान का उत्तराधिकारी है। इसलिये प्रमाण की मीमांसा को कालिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र 'पूजित विचार' मानते हैं और इसीलिये प्रमाण मीमांसा के अन्तर्गत केवल प्रमाण को ही विवेचनीय नहीं मोक्ष को भी प्रतिपादन का विषय घोषित करते हुये अपना ग्रन्थ प्रारम्भ करते हैं।

अनेक आचार्यों ने सम्यग् ज्ञान को प्रमाण कहा है। आचार्य हेमचन्द्र ने ज्ञान के स्थान पर आचार्य अभयदेव का अनुकरण करते हुए निर्णय शब्द का प्रयोग किया है। यह उनकी तर्करसिकता को सूचित करता है। ज्ञान के लिये तर्क वितर्क अपरिहार्य शर्त नहीं है किन्तु निर्णय तक पहुंचने के लिये तर्क-वितर्क के माध्यम से गुजरना ही पड़ता है। जिस पर दार्शनिक तो एक विशेष प्रकार के तर्क वितर्क से गुजरकर ही अर्थ का सम्यक् निर्णय करता है। इसलिय उसका ज्ञान तत्त्वज्ञान कहलाता है। भौतिक विज्ञानी भी अर्थ का निर्णय करता है किन्तु उसके निर्णय ईक्षण (Observation) और परीक्षण द्वारा गम्य तथ्य तक ही सीमित है। इसलिये ये निर्णय वस्तुनिष्ठ हैं और तथ्यपरक हैं। दार्शनिक अर्थ निर्णय की प्रक्रिया में ईक्षण और परीक्षण से आगे जाकर ऐसे तर्क का सहारा भी लेता है जो ईक्षण और परीक्षण का विषय नहीं है। इस प्रकार के निर्णय को वह दूसरे ज्ञानों से पृथक् करने के लिये तत्त्व ज्ञान की संज्ञा देता है। वैज्ञानिक की ज्ञान मीमांसा क्योंकि ईक्षण और परीक्षण से बाहर नहीं जाती इसलिये देश कालानीत पदार्थ उसका विषय नहीं बनते। इसीलिये उसका नाम भौतिक विज्ञान है। दार्शनिक की तत्त्व मीमांसा भौतिक और अभौतिक दोनों कोटि के पदार्थों को अपना विषय बनाती है।

चार्वाक के अपवाद को छोड़ दें तो सभी भारतीय दर्शन अस्तित्व को केवल भौतिक ही न मानकर अभौतिक भी मानते हैं किन्तु साथ ही यह भी स्वीकार करते हैं कि अभौतिक का ज्ञान तर्क द्वारा संभव नहीं है। अभौतिक को जानने का साधन वह योगाभ्यास है जो सवितर्क और सविचार तक ही सीमित नहीं है निर्वितर्क और निर्विचार तक भी जाते हैं। यह सामान्य ऐन्द्रिक ज्ञान की सीमा है । जहाँ तक

ऐन्द्रिक ज्ञान की सीमा है वहाँ तक धर्म दर्शन और विज्ञान के क्षेत्र समानान्तर चलते हैं किन्तु जहां अतीन्द्रिय पदाथां का संदर्भ आता है वहां विज्ञान की गति नहीं है और इस क्षेत्र में विज्ञान धर्म दर्शन का साथ छोड़ देता है। प्रमाण मीमांसा ग्रन्थ दर्शन के क्षेत्र में आता है जिसका एक भाग विज्ञान के समानान्तर है किन्तु दूसरे भाग का आधार विज्ञान नहीं योग है।

धर्म-दर्शन के इस वैशिष्ट्य के कारण जैनों ने प्रमाणों में मुख्य अतीन्द्रिय ज्ञान कराने वाले प्रमाणों को ही माना ओर अतीन्द्रिय ज्ञानों में भी मुख्य केवल ज्ञान की सिद्धि के लिये अनेक तर्क भी दिये। किन्तु यदि जैन प्रमाण शास्त्र अतीन्द्रिय ज्ञान तक ही सीमित होकर रह जाता तो वह नितान्त रहस्यवादी बन जाता है। इसलिये जैन आचार्यों ने सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष को भी पूरा महत्त्व दिया। इतना ही नहीं उन्होंने पारमार्थिक प्रत्यक्ष का संवादी भी माना- यःह एव शास्त्रस्य विषय स्याद्वाद

इसका यह अर्थ हआ कि पारमार्थिक प्रत्यक्ष द्वारा कुछ ऐसे विषय अवश्य जाने जाते हैं जो व्यावहारिक प्रत्यक्ष द्वारा नहीं जाने जा सकते किन्तु जो विषय व्यावहारिक प्रत्यक्ष द्वारा जिस प्रकार जाने जाते है पारमार्थिक प्रत्यक्ष द्वारा नहीं वे उसी प्रकार जाने जाते हैं शास्त्रीय 4 शब्दावली को छोड़कर यदि इस तथ्य को कहें तो तात्पर्य यह होगा कि जो क्षेत्र विज्ञान और धर्म का समान है उतने क्षेत्र में धर्म और विज्ञान परस्पर विरोधी नहीं है जो क्षेत्र में धर्म और विज्ञान परस्पर विरोधी नहीं है जो क्षेत्र ऐसा है जहां विज्ञान की गति ही नहीं है वहां विज्ञान मौन रहता है और इसलिये धर्म और विज्ञान के बीच मतभेद का प्रश्न ही नहीं उठता।

विज्ञान और धर्म अथवा व्यावहारिक प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्ष के बीच संवाद स्थापित करने का सेतु स्याद्वाद और अनेकान्तवाद है। अनेकान्त का आधार है- अनुभव। विज्ञान का आधार भी अनुभव है। अनुभव को सत्य मानने वाले दर्शन वस्तुवादी कहलाते हैं। अनुभव में प्राप्त होने वाले विरोधाभास का समाधान ढूंढने के लिये अनुभव का अपलाप करने वाले दर्शन प्रत्ययवादी कहलाते है। अनुभव को वास्तविक मानने वाले वस्तुवादी दर्शन अनुभव में प्रतीत होने वलो विरोध को विरोध मानते ही नहीं- '**अनुभव सिद्धेऽर्थ विरोधाऽसिद्धे**' प्रत्ययवादी दर्शन अनुभव में आने वाले जिस विरोध की ओर इंगित करते हैं वस्तुवादी दर्शन सापेक्षता के आधार पर उस विरोध का परिहार कर देते हैं। सापेक्षता के आधार पर अनुभव में आने वाले इस विरोध के परिहार करने की प्रक्रिया हो स्याद्वाद है। वस्तु में अनुभव से विरोध प्रतीति में आता है किन्तु इस कारण अनुभव का अपलाप नहीं किया जा सकता इस सिद्धान्त की स्वीकृति ही अनेकान्त है।

डॉ. सतकंडी मुखर्जी ने हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट किया है कि प्रत्ययवादियों के अनुसार कुछ तर्क अनुभव निरपेक्ष होते हैं जिनकी सत्यता के लिये अनुभव अपेक्षित नहीं है। उदाहरणत: रक्त और अरक्त । रक्त पदार्थ अरक्त नहीं हो सकता तथा अरक्त पदार्थ रक्त नहीं हो सकता। इस बात का सत्यापन करने के लिये अनुभव की अपेक्षा नहीं है। किसी भी पदार्थ को देखे बिना ही हम यह कह सकते है कि यदि वह रक्त है तो वह अरक्त नहीं है प्रत्ययवादियों के मत में यह तर्क इतना बलवान है कि यदि हमारे अनुभव में इस तर्क के विरुद्ध कोई पदार्थ प्रतीति में आये तो हमें अपने अनुभव की प्रमाणितकता पर ही प्रश्न चिह्न लगाना पड़ेगा न कि इस स्वत: सिद्ध तर्क की सत्यता पर । उदाहरणत: वेदान्त ने हमारे इस अनुभव का विश्लेषण किया कि हमें एक ही पदार्थ सद्रूप भी अनुभव में आता है और असद् रूप भी। और उपर्युक्त स्वत: सिद्ध तर्क के आधार पर ऐसा होना संभव नहीं है अत: उससने हमारे अनुभव की ही प्रमाणिकता को नकारते हुये अनुभव में आने वाले जगत् को मिथ्या घोषित कर दिया।

जैन दर्शन वस्तुवादी है। अनुभूत पदार्थ में विरोध को देखकर वह अनुभव का अपलाप नहीं करता प्रत्युत अनुभव में आने वाले विरोध की ऐसी व्याख्या करता है कि वह विरोध ही नहीं रहता। इस मत के अनुसार कोई भी तर्क अनुभव निरपेक्ष नहीं है। अनुभव के आधार पर भी हम तर्क के विद्धान्तों का निर्माण करते हैं। यदि अनुभव में एक पदार्थ सत् और असत् दोनों रूप में आ रहा है और सत् और असत् में परस्पर विरोध दृष्टिगोचर होता है तो हमें इसका यह समाधान देना होगा कि दृष्टिभेद के कारण पदार्थ सद्रूप और असद्रूप है अर्थात् जिस रूप में वह सद्रूप है इस रूप में असद्रूप नहीं है इसलिये हमारा अनुभव तर्क विरुद्ध नहीं है और उसके अपलाप करने की आवश्यकता नहीं है।

वस्तुत: देखा जाये तो सत्ता का रहस्य इस विरोधाभासात्मकता में ही है और उस रहस्य को खोजने की कुंजी भी इस विरोधाभास की विरोधाभासता को समझ लेने में है। विवेच्य ग्रन्थ में इस अनेकान्त का सहारा लेकर ही समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया गया है।

वस्तुवादी दर्शन की दृष्टि ठीक है या प्रत्ययवादी दर्शन की दृष्टि ठीक है यह विवाद का विषय हो सकता है किन्तु इसमें कोई विवाद नहीं है कि इन दोनों दर्शनों में वस्तुवादी दर्शन का ही विज्ञान से तालमेल है क्योंकि विज्ञान भी अनुभव और अनुभव में आने वाले पदार्थ को सत्य मानकर ही चलता है। पश्चिम में तो वस्तुवादी और प्रत्ययवादी दर्शन रहे ही हैं भारतवर्ष में भी वेदान्त और बौद्ध दर्शन के कुछ प्रस्थानों को छोड़कर सभी दर्शन वस्तुवादी रहे किन्तु उन सभी वस्तुवादियों की दृष्टि

को अनेकान्तवाद के रूप में एक व्यवस्थित दार्शनिक रूप देने का काम जैन दार्शनिकों ने किया। इसका फल यह हुआ कि अनेक ऐसे दार्शनिक विवादों को भी जो परस्पर वस्तुवादियों के बीच भी चल रहे थे इस ढंग से सुलझा दिया कि जैन समाधान अत्यन्त युक्ति संगत बन पड़ा ।

उदाहरण के रूप में प्रामाण्यवाद का प्रश्न उद्धत किया जा सकता है। प्रामाण्यवाद को लेकर मुख्य विवाद मीमांसक और नैयायिको के बीच था जो कि दोनों ही वस्तुवादी थे। मीमांसक मानता था कि सभी ज्ञान स्वत: प्रमाण होते है तब तक कि उनकी अप्रमाणिकता सिद्ध न हो जाये। यह स्वत: प्रमाण्य का सिद्धान्त है। इसके विपरीत नैयायिक मानता था कि सभी ज्ञान स्व्त: अप्रमाण होते है जब त कि उनकी प्रमाणता सफल प्रवृत्ति जनकत्व द्वारा सिद्ध न हो जाये । इन दोनों मतों के बीच दीर्घकाल तक विवाद चलता रहा और दोनों एक-दूसरे के सिद्धान्त में कमी दिखलाते रहे किन्तु विवाद का निर्णय नहीं हो पाया। यह विवाद इतना महत्त्वपूर्ण हो गया कि मण्डनमिश्र जैसे प्रसिद्ध मीमांसक के घर में इस विवाद को सुनकर उसके पालतु तोता मैना भी यह शास्त्रार्थ दोहराने लग गये थे। आधुनिक युग में काल पोर्टर ने इस समस्या को प्रमाण मीमांसा अथवा ज्ञानमीमांसा की सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या घोषित किया है।

जैन अपनी अनेकान्त दृष्टि के कारण ज्ञान में एक अपेक्षा से स्वत: प्रमाण्य तथा दूसरी अपेक्षा से परत प्रामाण्य मानकर इस समस्या का समाधान इस प्रकार करता है कि जिन विषयों का ज्ञान बारम्बार होने के कारण हमें अपने ज्ञान में संदेह नहीं होता वहां ज्ञान के सत्यापन की किसी अन्य प्रक्रिया से आवश्यकता नहीं है वहां ज्ञान को स्वत: प्रमाण ही मान लेना चाहिये किन्तु जहां ज्ञान के संबंध में संदेह का अवकाश बना रहता है वहाँ नैयायिक की प्रक्रिया के अनुसार सफल क्रिया जनकत्व द्वारा उसके सत्यापन की आवश्यकता रहती है। समस्या का समाधान इस प्रकार होगा कि सभी अनभ्यास दशा के ज्ञानों का सत्यापन अभ्यास दशा के ज्ञानों द्वारा किया जायेगा और क्योंकि अभ्यासदशा के ज्ञान स्वत: प्रमाण होते है अत: उनके सत्यापन की आवश्यकता नहीं होगी। इस प्रकार परत: प्रामाण्यवाद पर आने वाला अनवस्था दोष नहीं आयेगा और न स्वत: प्रामाण्य के वत्त में आने वाला । यह दोष आयेगा कि यदि ज्ञान स्वत: प्रमाण है तो फिर ज्ञान के प्रामाण्य में विसंवाद क्यों होता है। इस दृष्टि को अपनाने पर नैयायिक और मीमांसक दोनों के द्वारा एक दूसरे के संबंध में उठायी गई आपत्तियों का समाधान हो जाता है। ऐसे अनेक दूसरे भी विषय हैं जहां अनेकान्त समस्याओं का व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत करता है।

प्रमाण मीमांसा में इस अनेकान्त दृष्टि के उपयोग के अनेक उदाहरण है। अनेकान्त का सबसे बड़ा फल है विचारों का लचीलापन । आचार्य हेमचन्द्र ने विचारों के इस लचीलेपन का उपयोग केवल जैन एवं जैनेतर सिद्धान्तों के बीच समन्वय स्थापित करने में ही नहीं किया अपितु जहाँ जैनाचार्यो में भी परस्पर मतैक्य नहीं था वहां भी उस विवाद का समाधान उन्होंने अनेकान्त के माध्यम से खोजा। उन्होंने प्रमाण के लक्षण में पदार्थ के ही सम्यग् निर्णय को रखा। जबकि अन्य कई जैन आचार्य प्रमाण को स्व और पर दोनों का निश्चायक मानते थे। आचार्य हेमचन्द्र के सम्मुख यह प्रश्न था कि उन्होंने जैन आचार्यों के लक्षण का अनुकरण क्यों नही किया? आचार्य हेमचन्द्र के पास इसका उत्तर था कि यद्यपि प्रमाण स्वव्यवसायी भी होता है किन्तु स्व व्यवसायित्व संशय विपर्यय आदि अप्रमाण में भी रहता है अतः प्रमाण के लक्षण में स्व व्यवसायित्व का समावेश अनावश्यक है। क्योंकि लक्षण में उसी धर्म का समावेश किया जाता है जो धर्म विपक्ष से धर्मो को पृथक् कर दे। इतना स्पष्ट विवेचन करने के बाद भी आचार्य हेमचन्द्र अनेकान्त का सहारा लेते हुए अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के लक्षण में दोष का दर्शन नहीं करते अपितु यह समाधान प्रस्तुत करते हैं कि उन पूर्ववर्ती आचार्यों ने परीक्षा के लिये यह विशेषण प्रमाण के लक्षण में समाविष्ट कर दिया।

वृद्धैस्तु परीक्षार्थमुपक्षिप्त इत्यदोषः।

इस प्रकार पूर्ववर्ती आचार्यों के लक्षण में अतिरिक्तता का दोष मानने पर भी उन पर आक्षेप न करना अनेकान्त दृष्टि के लचीलेपन का परिणाम है। इस लचीलेपन का एक अन्य उदाहरण है- परार्थानुमान का वह प्रसंग जहां परार्थानुमान में अव्यवों की संख्या का प्रश्न आता है। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार प्रेक्षावान् श्रोता के लिये दो ही अव्यवों का प्रयोग पर्यापत है हेतु और प्रतिज्ञा।

एतवान् प्रेक्षप्रयोगः (२.१.९)किन्तु नैयायिक पांच अवयवों का प्रयोग आवश्यक मानते हैं आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि कम प्रतिभावान् श्रोता के लिये पांच अवयवों का प्रयोग करना भी गलत नहीं है। बोध्यानुरोधातप्रतिज्ञाहेतुदाहरण्ण निगमनानि पञ्चापि (२.१.१०) यह सापेक्ष दृष्टि का ही परिणाम है कि दो ही अवयवों के प्रयोग की हठ धार्मिता को छोड़कर आचार्य बुद्धिमान् अथवा कम बुद्धिमान श्रोता की अपेक्षा को ध्यान में रखते हुए दोनों विकल्पों की छूट दे देते । विचारों का ऐसा लचीलापन अन्य दार्शनिकों में शायद ही देखनें का मिले।

अनेकान्त का उपयोग केवल विरोध का परिहार करने के लिये ही नहीं होता अपितु वस्तु का स्वरूप निर्धारित करने के लिये भी होता है। अनुभव में यह स्पष्ट आता है कि पदार्थ स्वरूप में सत् है और पर रूप में असत् है। यदि पदार्थ्ज्ञ

सभी रूपों में सत् होगा तो पदार्थ की स्वस्वरूपता ही समाप्त हो जायेगी और प्रत्येक पदार्थ रूप हो जायेगा। जो कि अनुभव के विरुद्ध है और पदार्थ को यदि सभी रूप में असत् मानें तो पदार्थों का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा और सब शून्य रूप हो जायेगा। ऐसा मानना भी अनुभव का अपलाप करना ही होगा अतः वस्तु का स्वरूप भाव अभाव रूप है। यही मानना होगा । **भावाभावात्मकत्वाद् वस्तुनो निर्विषयोऽभावः** अनेकान्तवाद पर जो अनेक आक्षेप लगाये गये और जिनका निराकरण भी विस्तार से जैन ग्रन्थों में हुआ उन सब आक्षेपों का मूल यह है कि अनेकान्त विरोधी धर्मों को एकत्र स्वीकार करने संशयवाद को ही पुष्ट करता है और संशयवाद अप्रमाणिक होने के कारण किसी दर्शन का पुष्ट आधार नहीं बन सकता। इस संबंध में जैन आचार्यों का मत बहुत स्पष्ट है यदि वस्तु में उभयात्मकता है तो उसे स्वीकार करना संशय नहीं है और हमें उभयकोटि का ज्ञान हो रहा है तो वह निश्चय ही संशय है। उदाहरणतः- किसी एक पदार्थ में एक साथ स्थाणुत्व व पुरुषत्व नहीं रह सकते किन्तु यदि उस पदार्थ को अंधकार आदि बाधा होने के कारण हमें उभयकोटिक ज्ञान हो रहा हो तो वह संशय है किन्तु घट में घट की अपेक्षा अस्तित्त्व और पट की अपेक्षा नास्तित्व का ज्ञान हो रहा है वह ज्ञान किसी बाधक तत्त्व के कारण नहीं अपितु इस कारण हो रहा है कि घट में वस्तुतः अस्तित्त्व नास्तित्त्व रूप उभय स्वभाव उपस्थित है। ऐसे प्रामाणिक ज्ञान को संशय न हीं कहा जा सकता। घट में अस्तित्त्व व नास्तित्त्व का ज्ञान अनुभव गम्य है और किसी भी प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से अबाधित है अतः उसका अपलाप नहीं किया जा सकता जो प्रत्ययवादी अनुभव का ही अपलाप करते हैं उनकी बात दूसरी है। वे यहां अस्तित्त्व और नास्तित्त्व में विरोध मानकर किसी एक का अपलाप चाहे करें किन्तु इस संबंध में उनके पास कोई निर्णायक प्रमाण नहीं है कि उनके द्वारा कल्पित विरोध का परिहार करने के लिये आस्तित्व व नास्तित्त्व में से किस अंश का अपलाप किया जाये। बौद्ध आस्तित्व का अपलाप करेगा तो वेदान्ती नास्तित्व का अपलाप करेगा। किन्तु ये दोनों ही अपने-अपने अन्योन्थ विरोधी मत के समर्थन में त्रिर्णायक प्रमाण नहीं दे पायेंगे। जबकि वस्तुवादी इनके पारस्परिक विवाद के बीच मध्यस्थ भाव रखता हुआ अनुभव की सत्यता को ही घोषित करेगा। और इस प्रकार प्रत्ययवादी पारस्परिक विवाद में उलझा रहेगा जबकि वस्तुवादी अपने दार्शनिक भवन को अनुभव के ठोस आधार पर खड़ा कर लेगा।

पंडित सुखलाल जी संघवी ने प्रमाण मीमांसा की अपनी प्रस्तावना में यह स्पष्ट किया है कि किस प्रकार अनेकान्तवाद सामान्य और विशेष, अभेद और भेद, दैव और पुरुषार्थ नित्य और अनित्य, अनिर्वचनीयत्व और वचनीयत्व, आगमवाद

और हेतुवाद आदि अनेक पारस्परिक विरोधी मतों के बीच समन्वय स्थापित करता है।

वस्तुवादी दर्शनों में यद्यपि भेद और अभेद दोनां को स्वीकृति प्राप्त हुई किन्तु फिर भी उनके बीच मतभेद इसलिये बना रहा कि सांख्य दर्शन भेद और अभेद के बीच अभेद को मुख्य मानता रहा । वैशेषिक भेद को मुख्य मानता रहा। जबकि जैन ने इन दोनों को समान महत्त्व देकर संतुलित और तटस्थ दृष्टि का परिचय दिया अत: वस्तुवादी दर्शनों के बीच भी जैन ने अपनी एक विशेष स्थिति बनाई।

प्रमाण मीमांसा में आचार्य हेमचन्द्र ने आद्योपान्त अनेकान्त दृष्टि का आश्रय लिया है। उनके द्वारा अनेकान्त के उपयोग के कुछ उदाहरण हमनें ऊपर दिये है उसके अतिरिक्त भी अनेक स्थलों पर अनेकान्त के उपयोग के प्रसंग प्रमाण मीमांसा में हैं। जैन दार्शनिक ज्ञान को स्वभासी मानते हैं अर्थात् वे मानते है कि ज्ञान स्वयं को जानता है। प्रश्न होता है कि ज्ञान तो ज्ञाता है वह श्रेय कैसे हो सकता है? समाधान ह कि यदि ज्ञान एक अपेक्षा से ज्ञाता है तो वह दूसरी अपेक्षा से ज्ञेय भी हो सकता है जिस प्रकार एक ही व्यक्ति यदि एक की अपेक्षा पिता है तो दूसरी की अपेक्षा पुत्र भी हो सकता है। इसी प्रकार वस्तु के स्वरूप को द्रव्य पर्यायात्मक बताते समय भी वस्तु में ध्रौव्य और उत्पाद व्यय जैसे विरोधी धर्मों का समन्वय हेमचन्द्राचार्य ने किया है और यह भी स्पष्ट किया है- कि द्रव्य और पर्याय एक दूसरे से सर्वथाा भिन्न नहीं है। इसी आधार पर जैन दर्शन वैशेषिक से भिन्न हो जाता है। इस प्रसंग में ही हेमचन्द्राचार्य ने द्रव्य और पर्याय में भेद और अभेद दोनों कैसे रह सकते हैं यह समस्या उठाकर अनेकान्त पर अनेक विरोधियों द्वारा उठाये जा सकने वाले आठ दोष बतलाकर उनका परिहार किया है। प्रमाण और प्रमाण के फ ल के बीच भी यही भेदाभेद की स्थिति है।

अनेकान्तवाद स्वभावत: अनाग्रही है। उसी का यह फ ल है कि हेमचन्द्राचार्य धर्मी के लिए प्रमाण सिद्ध आवश्यक मानते हुए भी विकल्प बुद्धि प्रसिद्ध को भी धर्मी मानते हैं। इसी प्रकार वे सिद्धान्तत: यह मानते हैं कि जात्युत्तर के अगणित भेद हैं। अत: उनकी संख्या नहीं बतायी जा सकती। तथापि गौतम ने न्याय शास्त्र में क्योंकि २४ जात्युत्तर बताये है अत: हेमचन्द्राचार्य ने भी उन चौबीस का केवल नामोल्लेख ही नहीं किया प्रत्युत विवरण भी दे दिया है। यह उनकी उदारता का सूचक है। एक जैनेतर आचार्य से सहमत न होते हुए भी उनके मतानुसार विषय के विवेचन को अपने ग्रन्थ में समाविष्ट करना इस बात का सूचक है कि वे केवल अनेकान्त के शरीर को ही नहीं आत्मा को भी पकड़ पाये थे।

प्रमाण मीमांसा में आचार्य हेमचन्द्र की मौलिक दृष्टि अनेक स्थानों पर प्रकट होती है डॉ. सतकड़ी मुखर्जी ने भारतीय परम्परा में मौलिकता की अवधारणा स्पष्ट करते हुए लिखा है: ''योरोप और भारत के आधुनिक विश्व विद्यालयों में वैचारिक मौलिकता की बहुत प्रशंसा की जाती है किन्तु हमारे प्राचीन लेखक इसको अनावश्यक महत्त्व नहीं देते थे भारत में कोई भी गम्भीर दार्शनिक कृति अपनी अलग-थलग स्थिति बनाकर नहीं रहती थी अपितु निरन्तर विकसनशील दार्शनिक चिन्तन की परम्परा में एक कड़ी मात्र होती थी और उसका गंभीर उद्देश्य सम्प्रदाय के मौलिक तत्त्वों के प्रति ईमानदार होना रहता था। अत: हमें यह आशा नहीं करनी चाहिये कि शाब्दिक या वैचारिक मौलिकता के परिप्रेक्ष्य में कोई कृति उन मौलिक सिद्धान्तों से एकदम भिन्न मार्ग गृहण कर लेगी जो मौलिक सिद्धान्त किसी सम्प्रदाय को उसका विशिष्ट व्यक्तित्त्व प्रदान करतते है।''

इस सीमा के होने पर भी आचार्य हेमचन्द्र ने अक्सर मिलने पर अपनी स्वतन्त्र दृष्टि का परिचय दिया है उदाहरणत: प्रमाण का लक्षण देते समय उन्होंने अपने पूर्ववर्ती जैनाचार्यों द्वारा लिये गये दो विशेषणों का समावेश नहीं किया -- १. स्वनिर्णय, २. अपूर्वार्थ विज्ञान।

स्व निर्णय के संबंध में उनका कहना है कि कोई भी ज्ञान परावभासक होने के साथ स्वावभासक भी होता है। किन्तु यह स्थिति केवल प्रमाण पर ही लागू नहीं होती अप्रमाण पर भी लागू होती है अत: स्व निर्णय की शर्त प्रमाण के लक्षण में नहीं दी जा सकती क्योंकि कोई विशेषता है ऐसा मानकर सभी विशेषताएं लक्षण में समाविष्ट नहीं की जाती किन्तु लक्षण में उसी धर्म का उल्लेख होता है जो धर्म लक्ष्य को विपक्ष से अलग कर दे- **न हि अस्ति इत्येव सर्वं लक्षणत्वेन वाच्यं किन्तु यो धर्मो विपक्षात् व्यावर्तते।** अपनी सूक्ष्म दृष्टि से आ. हेमचन्द्र ने यहां लक्षण और वर्णन का भेद स्पष्ट किया है किसी पदार्थ के वर्णन में हम उस के किसी भी धर्म का उल्लेख कर सकते हैं किन्तु लक्षण देते समय व्यावर्तक धर्मो का ही उल्लेख होता है।

लक्षण की यह विशेषता बतलाते हुये आ. हेमचन्द्र ने एक ऐसे सार्वभौम सत्य का प्रतिपादन कर दिया है जो सभी शास्त्रों पर लागू होता है। यह निर्णय दे देने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रमाण लक्षण में स्वनिर्णय पद का सन्निवेश नहीं हो सकता तथापि अपने पूर्व आचार्यो के प्रति सम्मान प्रदर्शित करते हुये आ. हेमचन्द्र उसमें दोष दर्शन करने के स्थान पर केवल इतना कहकर छोड़ देते हैं कि पूर्व आचार्यो ने विश्लेषण की दृष्टि से यह विशेषण दे दिया है। ''**वद्धैस्तु परीक्षार्थमुपक्षिप्त इव्यदोषः।**'' इसी प्रकार अपूर्वार्थ विज्ञान के संबंध में आ.

हेमचन्द्र का कहना है कि पर्याय की अपेक्षा तो सभी पदार्थ प्रतिक्षण अपूर्व ही होते हैं अतः अपूर्व विशेषण निरर्थक है। यदि द्रव्य की दृष्टि से देखें तो द्रव्य नित्य है फिर यदि उसकी अनागत पर्याय को ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रमाण है तो अतीत पर्याय को ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रमाण क्यों नहीं होगा। और प्रत्यक्ष के भेदों में तो अवग्रह के द्वारा गृहीत ही ईहा के द्वारा गृहीत ही अवाय का विषय बनता है फिर अवग्रह और ईहा प्रमाण हो ही नहीं पायेंगे और परोक्ष प्रमाणों में से स्मृति सदा ही गृहीतगृही होती है अतः वह भी प्रमाण न होगी। अभिप्राय यह है कि ऐसे स्थलों पर हेमचन्द्राचार्य पूर्वाचार्यों का आंख मूंदकर अंधानुकरण नहीं किया अपितु स्वतंत्र विचार शक्ति का परिचय देते हुये पूर्वाचार्यों का सम्मान करने पर भी उनकी भूलों को सूधारने का प्रयत्न किया है।

संशय के विवेचन में आ. हेमचन्द्र ने जो विशेषता दिखाई है वह इसलिये महत्त्वपूर्ण है कि उसका संबंध जैन न्याय के मुख्य सिद्धान्त अनेकान्तवाद के संबंध में फैले हुये भ्रम से है अनेकान्तवाद के संबंध में यह भ्रम है कि वह विनिश्चित ज्ञान न देकरसंशयात्मक ज्ञान प्रदान करता है। इस भ्रम को ही आधार बनाकर धर्मकीर्ति जैसे विचक्षण नैयायिक ने भी अनेकान्त का मजाक उड़ाते हुए यह कहा है कि यदि कोई पदार्थ एक अपेक्षा से कुछ ओर और दूसरी अपेक्षा से कुछ ओर होता है तो दही भी किसी पअेक्षा से ऊँट और ऊँट भी किसी अपेक्षा से दही होना चाहिये इसलिए किसी को यह कहने पर कि तुम दही खालो उसे ऊँट खाने के लिये दौड़ पड़ना चाहिये। संशय के विवेचन में आ. हेमचन्द्र के द्वारा इस प्रकार के भ्रम का असंदिग्ध शब्दों में निराकरण कर दिया गया है। उनका कहना है कि जिस वस्तु में उभय कोटिक धर्म न रहते हों उस वस्तु में उभय कोटिक धर्म का ज्ञान संशय है जैसे एक ही पदार्थ में स्थाणुत्व और पुरुषत्व दोनों नहीं रहते फिर भी उस पदार्थ में जब उन दोनों का समान बल वाला ज्ञान हो रहा हो तो वह संशय होगा। जिसका स्वरूप होगा 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इस ज्ञान को कदापि अनेकान्त नहीं कहा जा सकता। अनेकान्त वहीं होगा जहां वस्तु में उभय कोटि धर्म अपेक्षा भेद से उपलब्ध होते हों जैसा कि आत्मा में पर्याय की अपेक्षा अनित्यता और द्रव्य की अपेक्षा से नित्यता उपलब्ध होती है तो आत्मा सयाद्नित्यः स्याद् अनित्य : ऐसा कहा जा सकता है। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि कभी कभी अत्युत्साह में अनेकान्त के समर्थक जो एक ही पदार्थ में ऐसे दो धर्मों का प्रतिपादन करने का साहस दिखलाते हैं जो दो धर्म उस वस्तु में रहते ही नहीं वह उनका दुराग्रह मात्र है कुछ ऐसे ही दुराग्रहों से अनेकान्त की व्याख्या सुनकर धर्मकीर्ति ने अनेकान्त पर आक्षेप लगाया होगा।

जैन न्याय भी बौद्ध न्याय अथवा गौतमीय न्याय के समान धर्म पर अवलम्बित है। पश्चिम के समान भारत में धर्म निरपेक्ष न्याय का विकास नहीं हुआ इसलिये पमाणों के अन्तर्गत आगम प्रमाण का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। आगम प्रमाण पर बल देने की भी एक पृष्ठभूमि है। प्रत्यक्ष तथा अनुमान की अपनी सीमा है सभी सत्य न प्रत्यक्ष द्वारा जाने जा सकते हैं न अनुमान द्वारा। ऐसे सत्य तर्कातीत हैं। कुछ विरले भाग्यवान् समाधि की स्थिति में ऐसे सत्यों का सीधा साक्षात्कार कर लेते हैं किन्तु जिन्हें यह सौभाग्य प्राप्त नहीं होता उनके लिये ऐसे सत्यों को जानने का एकमात्र साधन साक्षात्कृत धर्म ऋषियों की वाणी है। साक्षात्कृत ऋषियों की यह वाणी ही आगम कहलाती है। संसार के सभी धर्मों में इस प्रकार की वाणी के प्रति सर्वोच्च आदर का भाव प्रदर्शित किया गया है। तथा यह माना गया है कि इसमें तर्क-वितर्क को स्थान नहीं है। जैन परम्परा यह मानती है कि यह वाणी सर्वज्ञों की है। अत: इसमें संदेह के लिये अवसर नहीं है। इसलिये जैन परम्परा सर्वज्ञ की सिद्धि के लिये भूरि प्रयत्नशीलदृष्टिगोचर होती है। भारत में भी आगम के संबंध में तीन और मत दिखाइर्द देते है-

१. आगम ईश्वर की वाणी है। यह नैयायिकों का मत है।

२. आगम अपौरुषेय है। यह मीमांसकों का मत है।

३. आगम धर्मज्ञ बुद्धों की वाणी है। यह बौद्धों का मत है।

ये तीनों ही मतावलम्बी जैन सम्मत सर्वज्ञ की स्थिति स्वीकार नहीं करते। बदले में जैन भी इन तीनों मतों को स्वीकार नहीं कर सकता। अत: जहां जैन ग्रंथों में ईश्वर अथवा वेद की अपौरुषेयता पर प्रश्न चिह्न लगाया गया है वहां जैनेतर ग्रन्थों में सर्वज्ञता पर प्रश्नचिह्न लगाया गया है। ये सभी अपने-अपने मत के समर्थन में युक्तियां देते हैं। एक तटस्थ पाठक यह पायेगा कि इन सभी प्रकार की युक्तियों के बीच कोई युक्ति निर्णायक सिद्ध नहीं होती है। वस्तुस्थिति यह है कि सभी सम्प्रदाय अपने अपने आगम को निभ्रन्ति मानते हैं और इसीलिये उस आगम का स्रोत कुछ ऐसा मानना पड़ता है जो आगम की निभ्रन्तिता में बाधक न हो। साधारण मनुष्य द्वारा कहे गये वचन तो भ्रान्त हो सकते है अत: किसी भी स्थिति में आगम को साधारण मनुष्यों का वचन नहीं माना जा सकता। केवल भारत में ही नहीं भारत के बाहर भी विद्वान हुये वे इसी दृष्टि से अपने-अपने आगम का प्रतिपादन करते है। ईसाईयों के लिये बाईबिल इसीलिये निभ्रन्ति है कि उसके वचन ईश्वर के पुत्र ईसा मसीह, द्वारा कहे गये और मुसलमानों के लिये कुरान इसीलिये निभ्रन्ति है कि वह खुदा के पैगम्बर मोहम्मद साहब की वाणी है।

इस परिस्थिति में आचार्य हेमचन्द्र के लिये आगमों के प्रामाण्य के संबंध में और सर्वज्ञ के आस्तित्त्व के संबंध में युक्ति प्रस्तुत करना आवश्यक था और उन्होंने यह युक्तियां दीं भी। हमारा व्यक्तिगत मत है कि यह विषय श्रद्धा का अधिक है तर्क का कम। मूल बात यह है कि मनुष्य के व्यवहार को कोई स्थिर रूप देन के लिये कुछ मूल भूत मान्यताओं को उहापोह से ऊपर रखना जरुरी है। जो व्यवहार में दूसरों से अपने प्रति नहीं चाहता वह व्यवहार में दूसरों के साथ न करुं। यह सिद्धान्त पारमार्थिक दृष्टि से भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना महत्त्वपूर्ण व्यावहारिक दृष्टि से समाज की व्यवस्था को बनाये रखने के लिये आवश्यक है । यदि कोई समाज इस सिद्धान्त को प्रत्यक्ष या अनुमान आदि प्रमाणों के आधार चुनौती देना चाहेगा तो उसकी यह प्रवृन्ति आत्मघाती भी सिद्ध होगी अत: ऐसे सिद्धान्त को तर्क का विषय न मानकर आगम प्रमाण का विषय मानना ही कल्याणकारी है। ऐसे सर्वकल्याणकारी सिद्धान्तों की रक्षा के लिये आगम का प्रमाण्य मानना भी आवश्यक है।

भारतीय चिन्तन में हमने ऊपर आगम प्रमाण के संबंध में अनेक मान्यताओं का उल्लेख किया किंतु उस अनेकता के बीच भी एक एकता है। ये सभी आगमवादी परम्परायें एक बात से सहमत है कि अच्छे कर्म का फल अच्छा और बुरे का बुरा होता है तथा कोई भी अपने कर्म के फ ल से बच नहीं सकता ''अवश्यमेव हि भोक्तव्यम कृतं कर्म शुभमशुभम्'' इस कर्म सद्धान्त की ही स्वाभाविक परिणति पनर्जन्म के सिद्धान्त में हुई। जिसे सभी आगमवादी ने स्वीकार किया। बौद्ध आगम प्रमाण को स्वीकार नहीं करता किन्तु बुद्ध वचनों में उसकी श्रद्धा किसी भी प्रकार से कम नहीं है और कर्म सिद्धान्त में उसका भी अटल विश्वास है। केवल चावकि पुनर्जन्म को नहीं मानता है किन्तु वह किसी आगम को भी नहीं मानता है।

निष्कर्ष यह है कि सम्पूर्ण भारतीय मनीषा ने नैतिक व्यवस्था के लिये कर्म सिद्धान्त को अपरिहार्य समझा और केवल वर्तमान जीवन को ही एकमात्र जीवन मानते तो क्योंकि कर्म सिद्धान्त घटित नहीं हो पाता इसलिये सभी ने जन्म जन्मान्तरों की स्थिति मानी यही दष्टि नैतिक अवस्था बनाये रखने के मूल में है। जैन मान्यता का तो मेरु दण्ड ही कर्म सिद्धान्त है। इस परिप्रेक्ष्य में ही प्रमाण मीमांसा के सब सन्दर्भ देखे जाने चाहिये जिनमें आगम के प्रामाण्य को तथा सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। आचार्य हेमचन्द का आग्रह किसी व्यक्ति विशेष को वीतरा या सर्वज्ञ मनवाने का नहीं है नाम जो भी रहे किन्तु धर्म का स्रोत वहीं हो सकता है जो राग द्वेष आदि दोष से रहित हो और सर्वज्ञ हो।

अथापि रागादि दोषकालुष्यविरहिताः सतत ज्ञानानन्दभयमूर्तयो ब्रह्मादयः, तर्हि तादृशेषु तेषु न विप्रतिपद्याम हे, अवोचामहिङ्कृङ्कृ

''यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया वीत दोषकलुषः स चेद्भवानेक एव भगवन्नमोऽस्तु यया तया।

तीर्थङ्कर ऋषभदेव का मानवीय संस्कृति के विकास में योगदान

प्रोफेसर दयानन्द भार्गव

प्रथमतः सभ्यता और संस्कृति का अन्तर स्पष्ट होना चाहिये क्योंकि कई बार हम सभ्यता को ही संस्कृति मान लेते हैं। उदाहरणतः प्रायः सांस्कृति सन्ध्याओं के नाम पर सङ्गोत-नृत्यादि का आयोजन होता रहता है। गणतन्त्र दिवस पर भी विभिन्न प्रदेशों की सांस्कृतिक झाँकियाँ निकलती है। इस प्रसङ्ग में वस्तुतः जिसे हम संस्कृति कह रहे हैं, वे शास्त्रीय दृष्टि से संस्कृति न हो कर सभ्यता का अङ्ग है।

स्थूल रूप में सभ्यता का सम्बन्ध शरीर, मन और बुद्धि से है जबकि संस्कृति का सम्बन्ध आत्मा से है। ऐसा हम इसलिये कह रहे हैं कि संस्कृति शब्द सम् उपसर्गपूर्वक कृति शब्द से निष्पन्न हुआ है। सम् का अर्थ व्याकरण में एकीभाव है- समित्येकीभावे। हम सबके शरीर, मश्न तथा बुद्धि भिन्न भिन्न हैं। शरीर की भिन्नता का यह आलम है कि किन्ही दो मनुष्यों की हाथ की उँगलियों के निशान भी नहीं मिलते। मन भी हमारे अलग-अलग हैं। महाकवि महाकविभारवि ने कहा है कि चित्तवृत्तियाँ विभिन्न रूप होती हैं- विचित्र खलु चित्रवृत्तयः। बुद्धि के बारे में भी लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि हर खोपड़ी में बुद्धि अलग-अलग है- मुण्डे मुण्डे मतिभिन्न। शरीर, मन तथा बुद्धि की यह स्थिति है किन्तु आत्मा सबकी अपने शुद्ध रूप में समान है। सभी शुद्धात्मायें अनन्त चतुष्टय सयुक्त है। उनके अनन्त ज्ञान, दर्शन, वीर्य तथा सुख में किञ्चिन्मात्र भी भेद नहीं है। अतः हम आत्मा में ही एकीभाव देख सकते हैं। जहाँ एकीभाव है, वहीं संस्कृति हैञ समित्येकीभावे। जहाँ तक सभ्यता का प्रश्न है, उसका सम्बन्ध सभा से है- सभायां साधु सभ्यः।

संस्कृति और सभ्यता के इस भेद को ध्यान में रख कर यदि हम विचार करें तो पता चलेगा कि सभ्यता का जन्म तो भगवान् ऋषभदेव के पहले भी हो चुका था यद्यपि सभ्यता को विकास में भी उनका योगदान कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, तथापि संस्कृति के क्षेत्र में तो मानव जाति के इतिहास में उनका स्थान अनुपम है। सूचिकटाह न्याय से पहले सभ्यता की चर्चा करें। भगवान् ऋषभदेव से पहले भी तीसरे कुलकर क्षेमङ्कर ने पशुओं का पालन करना सिखाया, ग्यारहवें कुलकर चन्द्राभ ने कुटुम्ब की परम्परा डाली, स्वयं ऋषभदेव के पिता नाभिराय ने वनस्पतियों का उपयोग सिखाया। न्याय की व्यवस्था भी क्रमशः हा, मा तथा धिक् शब्दों के प्रयोग से अपराधी को सम्बोधित कर के की जाती थी। अभिप्राय यह है

कि भगवान् ऋषभदेव से पूर्व भी सभ्यता का जन्म तो हो ही चुका था, यत्किञ्चित् सभ्यता का विकास भी हो रहा था।

ऐसे में पन्द्रहवें कुलकर के रूप में ऋषभदेव ने सभ्यता को षट्कर्मों का अमूल्य योगदान दिया। उन्होंन असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प और सेवा के छह कर्मों की पद्धत्ति का आविष्कार क्या किया, समाज स्वरूप ही बदल डाला। यही छह कर्म चार वर्णों के आधार बने, असि क्षत्रिय के भाग में आयी, मसि ब्राह्मण के, कृषि-वाणिजय वैश्य के तथा शिल्प और सेवा शूद्र के। यद्यपि यह वर्ण व्यवस्था औपचारिक रूप से भारत में ही उपलब्ध है तथापि पूरे मानव समाज के सभी व्यवसायों का मूल इन छह कर्मों में निहित है। प्रश्न होता है कि क्या भगवान् ऋषभदेव से पूर्व इन कर्मों की विधि किसी को ज्ञात न थी? प्रश्न का उत्तर देना इसलिये कठिन है कि भगवान् ऋषभदेव प्रागैतिहासिक काल के पुरुष हैं और उस काल में मनुष्यों का पौर्वापर्य्य निर्धारित करना अत्यन्त कठिन है। तथापि इतिहास में इन कर्मों की पद्धति आविष्कृत करने का दावा किसी अन्य पुरुष के लिये किसी ने भी आज तक नहीं किया। यदि ये आविष्कार किसी अन्यने किये होते तो उसका नाम भी कहीं न कहीं अङ्कित होता । अवश्य पृथु का नाम कृषि से जुड़ा है किन्तु ऋग्वेद ने पृथु की तलना भगवान् राम से की है (ऋग्वेद १०.९३.१४) अतः वे राम के निकटवर्ती माने जा सकते हैं जब कि भगवान् ऋषभ भगवान् राम से बहुत पहले के हैं। पृथु नाम पर पृथ्वी का नमा पृथ्वी पड़ा - यह पुराणकार कह रहे हैं तो मानना होगा कि पृथु ने कृषि योग्य भूमि की कोई व्यवस्था की थी न कि कृषि कर्म सिखाया था। वैसे भी समाजोपयोगी सभी कर्मों की शिक्षा देने का श्रेय भगवान् ऋषभदेव को ही दिया जाता रहा है।

वस्तुस्थिति यह है कि भगवान आदि वैदिक परम्परा के पुराणों ने भगवान् ऋषभदेव को विष्णु का अवतार मानकर प्रकारान्तर से यह स्वीकार कर लिया कि लोकस्थिति बनाये रखने में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। विष्णु संसार के पालक माने जाते हैं। असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प और सेवा ही लोकस्थिति बनाने वाले हैं। यदि इनसे भगवान् ऋषभदेव का सम्बन्ध न होता तो उन्हें विष्णु का अवतार मानने का कोई औचित्य नहीं बनता। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भगवान् ऋषभदेव का सभ्यता के विकास में एक उल्लेखनीय योगदान था।

सभ्यता के योगदान के लिये भगवान् ऋषभदेव भले ही विष्णु के अवतार बन गये किन्तु उनका तीर्थङ्करत्व इस बात में है कि वे संस्कृति के क्षेत्र में तो पथिकृत् ही हैं। हम कह चुके हैं कि संस्कृति का सम्बन्ध आत्मा से हैं। असि,मसि,कृषि, वाणिज्य, शिल्प और सेवा से रोटी, कपड़े, मकान की भौतिक

आवश्यकता पूरी होती है किन्तु आत्मा की मुमुक्षा के लिये अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह ही पाथेय बनते हैं। भगवान् ऋषभदेव ने संयम का पथ प्रशस्त करके आत्मा की संस्कृति का तीर्थ बनाया, इसलिये तीर्थङ्कर कहलाये। जैसे पृथक् होने पर भी बद्ध अवस्था में आत्मा शरीर से जुड़ी है उसी प्रकार संस्कृति को भी सभ्यता स सर्वथाा पृथक् नहीं किया जा सकता । इस सम्बन्ध को भगवान् ऋषभदेव के सन्दर्भ में समझें7

अस अर्थात् शस्त्र से हिंसा होती है किन्तु उस हिंसा का नियमन करने के लिए अहिंसा चाहिये। असि और अहिंसा के सन्देश को मिलायें तो यह अर्थ निकलेगा कि निर्बल की रक्षा के लिये शस्त्र का प्रयोग होना चाहिये न कि निरपराध पर प्रहार करने के लिये। यही भगवान् ऋषभ के इच्वाकुवंशी राजाओं ने सन्देश दिया- आर्त्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्त्तुमनागसि। सभी शस्त्रों में असि का नाम लेना भी कुछ सूचना दता है। असि का प्रयोग आविरक आदि मे निरपराध पशु को मारने के लिए कभी नहीं सुना गया, आविरक में तीर-कमान अथवा आज बन्दूक अथवा कभी-कभी भले का ही प्रयोग होता है। तलवार से शिकार नहीं होता। असि शब्द का प्रयोग स्वयं में ही निरपराध पर शस्त्र-प्रयोग की वर्जना का सूचक है।

मसि सभ्यता के विकास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। आज का कम्प्यूटर मसि का ही आधुनिक रूप है। मसि के बिना सारा व्यवहार मौखिक ही चलता था। मसि के साथ भगवान् ऋषभदेव ने अपनी पुत्री ब्राह्मो को लिपिकलाभी सिखायी। तब ही मसि की परिपूर्णता बनती है। मौखिक व्यवहार की अपनी विशेषता है- उसमें बोलने वाला हमारे सामने रहता है। कुछ बात हम उसकी भाषा से समझते है, कुछ उसका आशय उसकी शारीरिक क्रियाओं बॉडी लैंग्वेज - स समझा जाता है। लिखित में लेखक हमारे सामने नहीं होता अतः उसकी मुखाकृति उसका आशय स्पष्ट करने में सहायक नहीं हो सकती। परिणामतः हम उसका आशय गलत भी समझ सकते हैं। ऐसे में किसी प्रकार की गलत फ हमी- मिसअन्डरस्टैन्डिंग- का पूरा अवकाश रहता है। इसलिये नयवाद की आवश्यकता जितनी मौखिक वार्तालाप में है, उससे कहीं अधिक लिखित वक्तव्य को समझने में हैं। नय का अभिप्राय है वक्ता का आशय- वक्तुरभिप्रायो नयः । सभ्यता हमें सुविधा भी देती है और जटिल भी बनाती है। जटिल व्यक्ति शब्द को अधिक पकड़ता है, आशय को कम। ऐसे में नयवाद आशय को समझने पर बल देता है। आश्चर्य नहीं कि सभ्यता के विकास के साथ नयवाद के प्रतिपादन की भी विशेष आवश्यकता पड़ी हो और जैन धर्म के संस्थापक भगवान् ऋषभदेव ने जैन धर्म के मूल में ही नयवाद की नींव रख दी हो जो बाद में सापेक्षतावाद,

अनेकान्तवाद, स्याद्वाद आदि के रूप में पुष्पित पल्लवित हो पूरी जैन प्रमाण-मीमांसा का आधार बन गया।

कृषि, वाणिज्य, शिल्प और सेवा अर्थकरी विद्यायें हैं। इनका आश्रय लेकर व्यक्ति सङ्ग्रह को प्रवृत्ति का शिकार हो सकता है। इनकी शिक्षा के साथ सङ्ग्रह-वृत्ति पर रोक लगाने के लिये अपरिग्रह का प्रतिपादन भी आवश्यक ही बन गया होगा। इस प्रकार सभ्यता के विकास ने संस्कृति के विकास को भी जन्म दे दिया। संक्षेप में यह सम्बन्ध इस प्रकार मानना चाहिये-

१. असिकर्म का संयमन करने के लिए अहिंसा।

२. मसिकर्म अर्थात् ज्ञान का नियमन करने के लिए नय अथवा सापेक्षतावाद।

३. कृषि, वाणिज्य, शिल्प तथा सेवा से उपार्जित सम्पत्ति की जमा खोरी को रोकने के लिये अपरिग्रह।

अहिंसा और अपरिग्रह के अतिरिक्त जो अन्य तीन व्रत-सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य्य हैं उनमें सत्य और अस्तेय तो अपने स्थूल रूप में कानून व्यवस्था के ही अङ्ग होने के कारण तथा ब्रह्मचर्य्य अपने स्थूल रूप में विवाह-पद्धति के नियमन द्वारा सभ्यता और संस्कृति का संयुक्त अङ्ग बन जाता है।

भगवान् ऋषभदेव ने लम्बे समय तक राजय किया इसलिये यह मानना चाहिये कि मुनि धर्म अङ्गोकार करने से पहले भी उन्हें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य तथा अपरिग्रह व्रतों के सामाजिक रूप की आवयकता अनुभव में आ गयी होगी। इन व्रतों का सामाजिक रूप जिसे श्रावकाचार अथवा अणुव्रत कहा जाता है, सभ्यता और संस्कृति के बीच की कड़ी है क्योंकि ये व्रत सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था बनाये रखने में भी सहायक हैं और आध्यात्मिक विकास की भी प्रथम सोपान हैं।

किन्तु तीर्थङ्कर ऋषभदेव का योगदान यहीं सम्पन्न नहीं हो जाता । एक अत्यन्त लोक प्रिय तथा सफल राजा होने पर भी उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने मुनि धर्म स्वीकार करके आत्मा की अन्तर्यात्रा प्रारम्भ की। उन्हें कोई मुनि अपने से पूर्व अपने समय में प्राप्त नहीं था। अत: किसी को गुरु बनाने का प्रश्न ही नहीं था। वे सत्यकी गवेषणा में व्रव्रजित हुए थे। अभी उन्होंने सत्य का साक्षात्कार उस अर्थ में नही किया था जिस अर्थ में हम उन्हें केवल ज्ञानी कह सकें। शास्त्र की भाषा में वे छ द्यस्थ थे । ऐसे में किसी को शिष्य बनाना भी उन्हें बाधक ही लगा। उन्होंने 'एकला चालो रे' की नीति अपनायी। वे जिन कल्पी साधु कहलाये। प्रश्न होता है कठोर तपोमयी साधु-चर्चा का पालन करते हुए उन्होंने किस सत्य का साक्षात्कार

किया? इस प्रश्न के उत्तर में ही वस्तुत: उनका मानवीय संस्कृति के विकास में योगदान विशुद्ध रूप में रेखाङ्कित होता है।

जैन-अजैन दोनों परम्परायें इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि मुनि धर्म का पालन करते समय उन्होंने सबसे अधिक बल वीतरागता पर दिया। वीतरागता के दो पक्ष रहे- एक तो सुविधा की गवेषणा नहीं करनी और दुविधा से भगवान नहीं, दूसरे सुविधा मिले तो खुश न होना और प्रतिकूलता आये तो दु:खी न होना। दूसरे शब्दों में समता का भाव रखना। यह समता का सिद्धान्त तीर्थङ्कर ऋषभदेव का मानवीय संस्कृति को सबसे बड़ा योगदान है। उनके बाद जैन तीर्थङ्करों को छोड़कर अन्य महापुरुषों की भी बात करें तो राम हों या कृष्ण, ईसा हो या मोहम्मद, बुद्ध हों या शङ्कर-किसी भी अवतार, ईशपुत्र, पैगम्बर, धर्म प्रवर्तक अथवा आचार्य ने परस्पर लाख मतभेदों के बावजूद समता की धरोहर को सदा शिरोधार्य ही किया ।

समता के सर्वोपरि मान लेने पर अहिंसा का अर्थ भी किसी को कष्ट न देने से आगे बढ़कर और गहरा हो गया- रागद्वेष की उत्पत्ति ही हिंसा है- रागद्वेषादीनामुत्पत्तिरेव हिंसा। राग-द्वेष के अभाव को एक परम्परा ने अहिंसा कहा तो दूसरी परम्परा ने अनासक्ति कहा किन्तु अभिप्राय दोनों का एक ही है।

व्यक्ति रागद्वेष स्वार्थ-वश करता है। राग-द्वेष छोड़ दे तो स्वार्थ कैसे सिद्ध होगा? स्वार्थ छूट गया तो जीवन का प्रेरणा स्रोत ही क्या रहा ? तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने पाया कि सुख का उत्स आत्मनिष्ठ है पर निष्ठ नहीं। यह सब जैने स्रोतों के आधार पर तो कहा ही जा सकता है किन्तु संसार की प्राचीनतम पुस्तक, ऋग्वेद, इस योगदान की चर्चा अत्यन्त गरिमामय शब्दों में करती है। अँग्रेजी में शक्ति की सूचना अश्वों से दी जाती है- २० हॉर्स पावर का इन्जन है- इत्यादि। किन्तु संस्कृत में शक्ति की बैल से दी जाती है- नरर्षभ, पुरुषर्षभ इत्यादि । इसलिये ऋषभ की शक्ति को सूचित करने के लिये वृषभ को उनका चिन्ह बना दिया गया। ऋग्वेद का मन्त्र कहता है कि एक वृषभ तीन स्थानों पर अपने को संयमित करके बारम्बार घोषणाा कर रहा है कि देवों का देव, महादेव, मरणधर्मा मनुष्य मेंही अनु प्रविष्ट है, उसे बाहर खोजने की आवश्यकता नहीं- त्रिधाबद्धो वृषभो रोखीति महादेवो मर्त्यांआविवेश इतने स्पष्ट प्रमाणा के रहते यह मानने का मन नहीं करता कि यह वाकय किसी बैल का वर्णन कर रहा है, ऋषभदेव का नहीं। मन, वाक् और काय की त्रिगुप्ति जैन परम्परा में प्रसिद्ध है। आत्मा ही परमात्मा है- यह सिद्धान्त भी जैन सम्मत है। वस्तुत: मन, वाक् काय की गुप्ति करके आत्मा में परमात्मा का दर्शन करने की बात कह कर ऋग्वेद ने ऋषभदेव के पूरे योगदान को एक ही वाक्य में

समेट दिया। यदि वैदिक साहित्य के ऐसे अंश ऋषभदेव का गुणगान न करते तो वेदों का परमप्रमाण मानने वाले भगवतादि पुराण भी उन का गुणगान कैसे करते?

भगवान् महावीर और समाज-दर्शन

-डॉ. दयानन्द भार्गव

भगवान् महावीर एक अध्यात्म-पुरु ष थे, समाज-सुधारक या समाज-शास्त्री नहीं, किन्तु अध्यात्म के क्षेत्र में उन्होंने जिन सत्यों को उद्घाटित किया वे समाज के लिये भी एक आलोक-स्तम्भ का काम करते है। अध्यात्म का विषय व्यक्ति-परक है, समाज समष्टि-परक होता है। किन्तु व्यक्ति और समाज परस्पर सापेक्ष हैं। अत: जो बात अध्यात्म पुरुष व्यक्ति के संदर्भ में कहते हैं, उस बात का सामाजिक आयाम भी स्वत: ही बन जाता है।

आज का युग समाज-प्रधान है। यह घटना आकस्मिक नहीं है कि अँग्रेजों के आने के बाद इस देश में जो सम्प्रदाय बने उन्होंने अपने आप को समाज शब्द से अभिहित करने में गौरव का अनुभव किया। उदाहरणत: आर्य-समाज, ब्रह्म-समाज, देव-समाज, प्रार्थना-समाज आदि। यह इस बात का सूचक है कि हमने समाज को महत्त्व देना प्रारम्भ किया। जैनों ने भी अपना आदर्श वाक्य 'परस्परोग्रहो जीवानाम्' को बनाया जो इस बात का सूचक है कि वे पारस्परिकता को, जो कि समाज की आधार-शिला है, महत्त्व देना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में देखना यह है कि हम भगवान् महावीर के अध्यात्मिक सन्देश में से ऐसे सूत्र कैसे प्राप्त करें कि उनको आध्यात्मिक मूल्य भी बना रहे और उनमें से समाजोपयोगी सङ्कत भी प्राप्त हो जायें।

भारतीय समाज की एक बड़ी समस्या है- ऊँच-नीच का भेदभाव। भगवान् महावीर ने स्पष्ट घोषणा की कि न कोई छोटा है, न कोई बड़ा है- णो हीणे णो अइरित्ते। प्रश्न होता है छोटापन और बड़ापन तो प्रत्यक्ष ही दिख रहा है फिर उकस अपलाप कैसे किया जा सकता? कोई बलवान् है कोई निर्बल, कोई बुद्धिमान है कोई मूर्ख, कोई धनवान् है कोई निर्धन। उच्चगोत्र और नीच गोत्र की बात स्वयं जैन शास्त्रों में ही कही गयी है। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि न कोई छोटा है, न कोई बड़ा है। भगवान् महावीर का कहना है कि व्यक्ति आत्मा है; वह शरीर, मन, बुद्धि, नहीं है। विषमता शरीर, मन, बुद्धि के स्तर पर है और उसे मिटाया भी नहीं जा सकता। किन्तु यह विषमता औपाधिक अर्थात् आगन्तुक है, आत्म-गत नहीं । अत: उसे महत्त्व नहीं देना चाहिये। महत्त्व दना चाहिये आत्म-गत समानता को। अपने शुद्ध रूप में आत्मा सबकी समान है। इस समानता को महत्त्व दें तो सबके प्रति सौहार्द का भाव बनेगा, हीनता की अथवा श्रेष्ठता की ग्रन्थि नहीं बनेगी।

इस प्रकार भगवान् महावीर ने ऊँच-नीच के भेद-भाव की ज्वलन्त समस्या का आत्म-दृष्टि के आधार पर एक युक्ति-सङ्गत समाधान प्रस्तुत किया। जातिवाद के लिये उन्होंने जाति की दार्शनिक व्याख्या को स्वीकार करते हुए कहा कि मनुष्य - मात्र की एक जाति है।

फ्रँास की क्रान्ति के तीन नारे थे- समानता, स्वतन्त्रता और बन्धुत्व। ऊपर हमने समानता की चर्चा की। स्वतन्त्रता को देखें तो भगवान् महावीर की एकमात्र उपास्य देवी स्वतन्त्रता थी। स्वतन्त्रता का ही पुराना नाम मुक्ति है। भगवान् महावीर ने एक तर्क-सङ्गत घोषणा की कि जो स्वतन्त्रता चाहता है उसे दूसरों को भी स्वतन्त्रता देनी होगी। हम अपने लिये स्वतन्त्रता चाहें और दूसरों की स्वतन्त्रता का सम्मान न करें- यह बात तर्क-विरु द्ध है। दूसरों की स्वतन्त्रता का सम्मान ही अहिंसा है। जैसे ही हम किसी की स्वतन्त्रता में बाधा डालते हैं, हिसां हो जाती है। हम दूसरे की स्वतन्त्रता मेंबाधा या तो किसी द्वेष के कारण डालते हैं अथवा अपने किसी स्वार्थ की पूर्त्ति के लिये अर्थात् राग-वश हम ऐसा करते हैं। निष्कर्ष यह हुआ कि स्वतन्त्रता चाहिये तो दूसरों को भी स्वतन्त्रता दें और दूसरों की स्वतन्त्रता में अपने राग-द्वेष को आड़े न आने दें। परिवार अथवा समाज में जितनी विकृतियाँ है, उनके मूल में हम कहीं न कहीं राग-द्वेष की भावना को ही छिपा पायेंगे। भगवान् महावीर ने यह अद्‌भुत घोषणा की कि राग-द्वेष से हम किसी दूसरे को कुछ बिगाड़ पायें या न बिगाड़ पायें, अपनी तो हानि कर ही लेते हैं। हम जितनी मात्रा में राग-द्वेष मे फँसते हैं, उतनी मात्रा में अपनी स्वतन्त्रता खो बैठते हैं।

बन्धुत्व की भावना समाज की रीढ़ है। बिना बन्धुत्व की भावना के भीड़ हो सकती है, समाज नहीं बन सकता। एक तीखा प्रश्न है कि क्या वीतरागता और बन्धुत्व का समन्वय हो सकता है। भगवान् महावीर का उत्तर है कि वीतरागता में ही सच्चा बन्धुत्व सम्भव है, शेष बन्धुत्व तो स्वार्थ का पारस्परिक आदान-प्रदान है। बिना वीतरागता के अंश के जो बन्धुत्व होता है वह स्वार्थ पर तनिक सी चोट पड़ने पर शत्रुता में बदल जाता है। ऐसे बन्धुत्व को तो छिपी हुई शत्रुता ही समझनी चाहिये जो कभी भी अपना असली रूप प्रकट कर देती है। इसलिये भगवान् महावीर ने राग को हिसां कहा, बन्धुत्व नहीं। उन्होंने भी समाज की संरचना की और उस समाज को संघ नाम दिया। इस संघ कके चार घटक थे किन्तु उनमें कोई भी घटक ऐसा नहीं था जिसमें न्यूनाधिक रूप में वीतरागता प्रकट न हो गयी हो। श्रावक-श्रावक में कुछ कम और साधु-समाज में कुछ अधिक वीतरागता रहती है, किन्तु वीतरागता का बीज सभी में अवश्य रहता है। कुद लोगों ने आरोप लगाया कि जैन धर्म में परस्पर सहायता का कोई स्थान नहीं । यदि ऐसा होता तो तीर्थङ्कर

चतुर्विध संघ की स्थापना ही क्यों करते? एक एक व्यक्ति अपनी अपनी मुक्ति की साधना कर लेता, संघ की क्या आवश्यकता थी? आचार्य और उपाध्याय की संस्था अनावश्यक थी। किन्तु भगवान् महावीर ने परस्पर सहायोग की एक सीमा बाँधी। सहयोग राग-वश रोग की वृद्धि क लिये न किया जाये अपितु नि:स्वार्थ भाव से राग को कम करने के लिये किया जाये। किसी का राग बढ़ाकर हम उसकी हानि करते हैं, उसका उपकार नहीं करते। यह बात सूर्य के समान स्वत: प्रकाशित है। एक दूसरे के राग के पोषण को रागी लोग भले ही सहायता माना करें किन्तु वीतरागता की प्रतिमूर्त्ति भगवान् महावीर वीतरागता को ही सच्चीकरणा मानते हैं-

कारूण्यञ्च वैराग्यान्न भिद्यते। भगवान् महावीर ने जिस संगठन की रचना की वह संघ था जिसके सदस्य एक दूसरे की वीतरागता की साधना में भरपूर सहायता करते थे।

भगवान् महावीर यथार्थवादी थे। वे जानते थे कि सब महाव्रती भी नहीं बन सकते, पूर्ण वीतराग बनने की बात तो बहुत दूर की है। अत: अधिकतर व्यक्ति रागात्मक प्रवृत्ति भी करेंगे ही। उन्हें क्रमश: राग से वीतरागता की ओर कदम बढ़ाने की उन्होंने प्रेरणा दी। विवेक उन्होंने यह किया कि जितनी मात्रा में वीतरागता है उतनी मात्रा में धर्म है और जितनी मात्रा में राग है उतनी मात्रा में धर्म नहीं है।

तथ्य यह है कि परिवार और समाज के कार्य राग से चलते हैं। भगवान् महावीर का सन्देश यह है कि इस राग की पृष्ठ भूमि में भी जितनी वीतरागता प्रगाढ़ होगी, उतना समाज सुखी होगा। समाज की सुख-समृद्धि की चिन्ता करने वालों के लिये भगवान् महावीर का यह सन्देश गम्भीर मनन का विषय बनना चाहिये। कभी कभी आरोप लगाया जाता है कि अध्यात्मवाद के कारण भारतीय-समाज लौकिक अभ्युदय के क्षेत्र में पिछड़ गया। भगवान् महावीर ने अध्यात्म को वीतरागता से परिभाषित किया। विचार यह करना चाहिये कि हमारा समाज राग-द्वेष के जाल में फँस कर पिछड़ रहा है या वीतरागता के कारण? शोषण, भ्रष्टाचार, आतङ्कवाद, जातिवाद, सम्प्रदायवाद आदि आदि राग-द्वेष के कारण उत्पन्न होते हैं, या वीतरागता के कारण? यदि इस एक प्रश्न का तटस्थ भाव से विश्लेषण किया जाये तो यह स्वत: स्पष्ट हो जायेगा कि भगवान् महावीर का सन्देश अध्यात्म-प्रधान होते हुए भी समाज के लिये अत्यन्त मूल्यवान् है। समाज की समस्याओं का समाधान राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि की दृष्टि से खोजते समय यदि भगवान् महावीर की वीतराग दृष्टि का भी समावेश कर लिया जाये तो एक समग्र समाज-दर्शन फलित

होगा। यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि वीतरागता कोई सम्प्रदाय नहीं है, अपितु वह तो सम्प्रदायवाद के समूलोन्मूलन का सशक्त माध्यम है।

भगवान् महावीर की प्रासङ्गिकता

भगवान् महावीर को जन्म लिये २६०० वर्ष पूरे हो रहे हैं। जैन समाज में इस अवसर पर बहुत उत्साह है। होना भी चाहिये। भगवान् महावीर ने एक धर्म संघ की स्थापना की। यह धर्म संघ आज भी जीवित है। इतने दीर्घकाल तक कोई परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती रहे, यह उसकी आन्तरिक शक्ति का असन्दिग्ध सूचक है। इस आन्तरिक शक्ति की स्पष्ट पहचान होनी चाहिये क्यों कि हम इस आन्तरिक शक्ति के जितना ही निकट रहेंगे उतना ही हमारा भी कल्याण होगा और जैन धर्म की जड़े भी उतनी ही गहरी बनेंगी।

माना जाता है कि भगवान् महावीर ने बारह वर्ष से भी अधिक गहन साधना की जिसके फलस्वरूप उन्हें सत्य का साक्षात्कार हुआ। अपने इस लम्बे साधना काल में उन्होंने घोर तपश्चर्य्या की ओर किसी प्रकार की बाह्य गतिविधि से विमुख रह कर आत्म तल्लीन ही रहे। सहज ही प्रश्न होता है कि इतनी दीर्घकालिक तथा इतनी कठोर तपश्चर्य्या के फलस्वरूप उन्हें कौन से सत्य का साक्षात्कार हुआ।

लोकप्रचलित है कि भगवान् महावीर ने अहिंसा का उपदेश दिया। अहिंसा का अथ्र समझा जाता है कि किसी को कष्ट न दिया जाये। यह अर्थ गलत भी नहीं है किन्तु अहिंसा का केवल इतना स्थूल अर्थ ही भगवान् महावीर ने नहीं लिया। उन्होंने कहा कि राग-द्वेष की उत्पत्ति हो जाना हिंसा है और राग-द्वेष का न होना ही अहिंसा है। अहिंसा का यह स्वरूप बहुत सूक्ष्म और व्यापक है। किसी को पीड़ित करने का अवसर तो जीवन में कभी -कभी ही आता है किनतु राग-द्वेष करने का अवसर पद पद पर आता रहता है। किसी को पीड़ित करना एक बाह्य घटना है किन्तु राग-द्वेष आन्तरिक घटना है। किसी को पीड़ित करना कार्य है, कारण नहीं; कारण तो राग-द्वेष है। हम किसी को पीड़ित न करें किन्तु राग-द्वेष बना रहे यह सम्भव है, किन्तु राग-द्वेष न रहे और हम किसी को पीड़ित करें यह सम्भव नहीं है।

मांसाहार छोड़ कर हम समझते हैं कि हम अहिंसक हो गये। मांसाहार बुरा है-इसमें सन्देह नहीं। पशु के प्रति क्रूरता बरते बिना मांसाहार प्राप्त नहीं हो सकता अत: कोई भी विवेकशील मनुष्य मांसाहार का समर्थन नहीं कर सकता। किन्तु किसी के शाकाहारी होने मात्र से वह अहिंसक हो जाता है- यह एक बड़ा भारी भ्रम है। शाकाहारी भी राग-द्वेष में लिप्त रह सकता है। इसलिये शाकाहार मात्र तक अपनी अहिंसा को सीमित रखने वाला अहिंसा की तेजस्विता को प्रकट नहीं कर पाता। अहिंसा की तेजस्विता प्रकट होती है वीतरागता में। किसी लालच अथवा

भय से प्रेरित होकर कोई कार्य न करने के लिये बड़ी हिम्मत चाहिये। दैनन्दिन जीवन में पद पद पर प्रलोभन हमें मार्गच्युत करना चाहते है। ये प्रलोभन केवल स्थूल ही नहीं, सूक्ष्म भी होते हैं। कभी कभी ये प्रलोभन इतने सूक्ष्म होते हैं कि जब तक हम पूर्ण जागरूक न हों, हमें स्वयं को भी पता नहीं लगता कि हम जिस कार्य को कर्त्तव्य समझ कर कर रहे हैं, उसके पीछे वस्तुत: हमारी कर्त्तव्य भावना नहीं है बल्कि हमारा सूक्ष्म स्वार्थ है। महावीर की साधना जागरूकता की साधना थी। यह जागरूकता संसार के प्रति जागरूकता नहीं है, अपने प्रति जागरूकता है। भगवान् महावीर ने अपने शिष्य गौतम को कहा कि हे गौतम! तुम क्षण भर भी प्रमाद मत करो। प्रमाद किया कि जागरूकता गयी ओर जागरूकता गयी कि राग-द्वेष ने आक्रमण किया।

राग-द्वेष का जाल बहुत सूक्ष्म है। अनेक लोग घर-बार छोड़कर मानते हैं कि उनका राग-द्वेष छूट गया। किन्तु उनके जीवन पर दृष्टि पात करें तो पता चलेगा कि उन्हें अनेकानेक सूक्ष्म प्रकार के राग-द्वेष पकड़ लेते है। प्रशंसा की इच्छा, लोकैषणा नहीं छूटती। प्रवचन में श्रोताओं की संख्या कितनी है- यह चिन्ता बनी रहती है। समाचार-पत्र में उनका छोटा सा छोटा वक्तव्य मोटे से मोटे अक्षरों में छपे- यह इच्छा बनी रहती है। राजनेताओं के साथ चित्र खिंच जाये- यह कामना पीछा नहीं छोड़ती। किन्हीं लोगों में इस प्रकार की इच्छा इतना विकट रूप धारण कर लेती हैं कि ऐसे लोग श्रद्धा के पात्र बनने की अपेक्षा हास्य के पात्र बन जाते हैं। साधारण व्यक्ति भी उनका मजाक उड़ाते हुए दिखायी देते हैं किन्तु रागान्धता के कारण उन्हें यह दिखायी ही नहीं देता कि उनकी प्रतिष्ठा धूल में मिल चुकी है।

भगवान् महावीर जानते और मानते थे कि राग छूटना सरल नहीं है अत: पूर्ण सत्य का साक्षात्कार करने से पूर्व तक उन्होंने साधुओं को भी छद्मस्थ ही कहा । छद्मस्थ बहुत सार्थक शब्द है। घर-बार छोड़ दिया और यह मान लिया कि मैं वीतराग हूँ किन्तु वस्तुत: यह वीतरागता का छद्म हैष्- ढोंग है- सच्ची वीतरागता नहीं है।

पूर्ण वीतरागता दुष्कर है और काम्य भी किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि आंशिक वीतरागता का महत्त्व नहीं है। भगवान् महावीर ने एक ऐसे साधक की भी कल्पना की है जो कुछ भी त्याग नहीं करता, कोई व्रत धारण नहीं करता किन्तु जिसने यह देख लिया कि राग अनर्थ की जड़ है। यह देख लेना ही दर्शन का सम्यक् होना है। जब राग को अनर्थकारी जान लिया तो एक न एक राग छूट भी जायेगा ही। सम्यक् दृष्टि की मुक्ति निश्चित है- विलम्ब भले ही हो जाये । वीतरागता की ऐसी महिमा है।

समझ लिया गया है कि वीतरागता मुमुक्षओं के लिये है, सांसारिक पुरुषों का काम तो राग से ही चलता है। यदि यह बात सच हो तो महावीर सांसारिक पुरुषों के लिये बेकार हो गये। किन्त् यह दृष्टि एक बहुत बड़ी भ्रान्ति है। वीतरागता का अर्थ है अप्रमाद। अप्रमाद सांसारिक पुरुषों के लिये भी बहुत कम की चीज है। प्रमादी व्यक्ति को लौकिक क्षेत्र में भी सफलता नहीं मिल सकती। अप्रमाद का अर्थ है पूर्ण मनोयोग से किसी कार्य को करना। ऐसा अप्रमाद सांसारिक सफलता में भी सहायक है।

सांसारिक कार्य राग के वशीभूत होकर ही किये जाते हैं- यह वक्तव्य पूरा सत्य नहीं है। सांसारिक कार्यो में राग और वीतरागता का मिश्रण रहता है। उदाहरणत: एक छात्र अध्ययन में कठोर श्रम कर रहा है। उसका उद्देश्य अच्छी नौकरी पाना है। यह राग हुआ। किन्तु अध्ययन करते समय वह अपने चित्त को शेष विषयों से हटा कर ग्रन्थ की विषय-वस्तु पर एकाग्र करता है, निद्रा का सुख छोड़ता है, आलस्य न आये इसलिये अनोदरी करता है- यह त्याग का अंश है। माता-पिता सन्तान का पालन पोषण करते हैं तो इसमें उनका स्वार्थ का अंश रहता है- यह राग हुआ । किन्तु इस प्रक्रिया में वे सहर्ष अनेक कष्ट भी उठाते हैं- यह त्याग हुआ।

वीतरागता का सन्देश सांसारिक व्यक्तियों के लिये भी प्रासाङ्गिक है। उनके कार्यों में राग ओर वीतरागता का अशं मिश्रित रहता है; उसमें राग का अशं जितना कम हो जायेगा और वीतरागता का अंश जितना अधिक हो जायेगा उतनी ही उनके जीवन में निर्मलता आयेगी। एक व्यक्ति नौकरी करता है आर उसके बदले में वेतन पाता है। यह परिग्रह है किन्तु इतना परिग्रह ग्रहस्थ के लिये वर्जित नहीं है। वही व्यक्ति घूस लेकर अपने पद का दुरुपयोग करता है और घूस देनें वाले व्यक्ति को अनुचित लाभ दे देता है। घूस की राशि भी परिग्रह ही है किन्तु यह परिग्रह अनुचित है। इस प्रकार गृहस्थ परिग्रह का एक अंश ईमानदारी और मेहनत से कमाया गया पैसा-ग्रहण करता है, अत: वह परिग्रही है किन्तु बेईमानी का पैसा ग्रहण नहीं करता अत: वह अपरिग्रही है। भगवान् महावीर कहेंगे कि एसा व्यक्ति सर्वथा अपरिग्रही नहीं होने से महाव्रती तो नहीं है किन्तु जितने अंश में वह परिग्रह को छोड़ता है उतने अंश में वह अपरिग्रही होने के कारण अणुव्रती अवश्य है।

सामाजिक प्राणी के लिये भगवान् महावीर ने अणुव्रतों का विधान किया। अणुव्रत का ह्रदय है कि सामाजिक दृष्टि से जो अनुचित है उसका त्याग किया जाये। एक आतङ्कवादी निरपराध की हत्या करता है और एक सैनिक देश की रक्षा के लिये शत्रु को मार गिराता है। ऊपरी दृष्टि से ये दोनों ही हत्या करते हैं किन्त्

दोनों की हत्या में रात दिन का अन्तर है। आतङ्कवाद त्याज्य है किन्तु आत्म रक्षा के लिये शस्त्र का प्रयोग करना गृहस्थ के लिये सम्भव नहीं है, अत: वह अहिंसा महाव्रत का तो पालन नहीं कर सकता किन्तु अहिंसा अणुव्रत का पालन अवश्य कर सकता है।

गृहस्थ घर बसाता है तो सन्तानोंत्पत्ति भी करता है। यह अब्रह्म का अंश है। किन्तु वह गृहस्थ भी अब्रह्म के सेवन को अपनी विवाहिता स्त्री तक ही सीमित रखता है। यदि वह स्वच्छन्द सेक्स का भोग करना चाहेगा तो सामाजिक व्यवस्था ही छिन्न भिन्न हो जायेगो। अत: उसे ब्रह्मचर्य्य अणुव्रती होना चाहिये।

भगवान् महावीर ने इस प्रकार अणुव्रतों के द्वारा एक स्वस्थ सामाजिक व्यवस्था दी। इस व्यवस्था का आधार व्यावहारिक है। गृहस्थ राग को कम से कम उतने अंश में तो छोड़े ही जितने अंश में राग समाज के लिये घातक है। इस सीमा में रहकर वह अपनी आवश्यकतायें मेहनत और ईमानदारी से पूरी कर सकता है। अणुव्रत का आज की भाषा में अर्थ होगा- भ्रष्टाचार -मुक्त समाज की संरचना। जो सत्य तथा अचौर्य अणुव्रत का पालन करेगा, वह भ्रष्टाचार कर ही नहीं सकता। यदि कोई अणुव्रती होकर भी भ्रष्टाचार कर रहा है तो वह अपने को ही धोका दे रहा है। भगवान् महावीर ने ऐसी कोई गुञ्जाइश नहीं छोड़ी कि व्यक्ति अणुव्रती हो और भ्रष्टाचार कर सके। अणुव्रतों के अतिचारों पर दृष्टिपात करें तो यह बात स्पष्ट हो जाती है।

क्या व्यक्ति ईमानदारी से जीवन निर्वाह कर सकता है- यह प्रश्न अनेक बार उठाया जाता है। उत्तर में कई बार कह दिया जाता है कि बेईमानी के बिना काम नहीं चल सकता। ऐसा सोचना बिल्कुल गलत है। संसार में अनेकानेक व्यक्ति ईमानदारी से अपनी जिन्दगी गुजार रहे हैं। बेईमानी हमारी आवश्यकता नहीं है बल्कि हमारे रागाधिक्य का परिणाम है।

जो कुछ अपने ऊपर कहा उससे स्पष्ट है कि भगवान् महावीर का सन्देश किसी एक वर्ग विशेष के लिये नहों बल्कि सब के लिये है। यह सच है कि उनके अनुयायिओं का एक वर्ग जैन कहलाता है। किन्तु यह केवल उपचार-मात्र है। सच्चा जैन तो वह है जो भगवान् महावीर के सन्देश को अपने जीवन में उतारे, भले ही वह किसी भी कुल में पैदा हुआ हो।

धर्म और सम्प्रदाय दो भिन्न पदार्थ है। धर्म सार्वभौम है। सम्प्रदाय सार्वभौम नहीं हो सकता। आत्मा तो धर्म ही है, सम्प्रदाय कलेवर मात्र है। जो सम्प्रदाय को मुख्य मान लेते हैं, उन्हें वस्तुत: भौतिकवादी ही मानना चाहिये। सम्प्रदाय को मुख्य मानने का परिणाम वही होता है जो अन्य किसी क्षेत्र में दलबन्दी का होता है। एक

राजनैतिक दल जिस प्रकार दूसरे राजनैतिक दल से प्रतिस्पर्धा रखकर उसे नीचा दिखाने में लगा रहता है उसी प्रकार यदि एक सम्प्रदाय दूसरे समप्रदायों को नीचा दिखााने में लगा रहे ता सम्प्रदाय को अपने लक्ष्य से च्युत मानना चाहिये। सम्प्रदाय का उद्देश्य है कि एक साधक अपने गुरु से व्यक्तिगत सम्पर्क द्वारा सत्य को पा सके। सत्य एक जीवन्त वस्तु है। उसे केवल शब्दों से नहीं पाया जा सकता। उसके लिये एक जीवन्त सम्पर्क चाहिये। यही गुरु शिष्य परम्परा का अर्थ है। गुरु शिष्य परम्परा का अर्थ है। गुरू-शिष्य परम्परा ही सम्प्रदाय है। सम्प्रदाय बुरी चीज नहीं है किन्तु पारस्परिक स्पर्धा में पड़कर सम्प्रदाय आज एक हेय पदार्थ बन गया है, हम में से कोई भी अपने को साम्प्रदायिक कहलाना पसन्द नहीं करते।

भगवान् महावीर के समय में भी अनेक सम्प्रदाय थे । उनका स्वयं का संघ भी एक सम्प्रदाय था। किन्तु दूसरे सम्प्रदायों के प्रति जो दृष्टि भगवान् महावीर ने बरती, वह आश्चर्यजनक है। उन्होंने घोषणा की कि कोई भी व्यक्ति सत्य के एक अंश को ही उद्घाटित कर सकता है, सम्पूर्ण सत्य को नहीं। एक व्यक्ति ने सत्य का एक अंश उद्घाटित किया और दूसरे व्यक्ति ने सत्य का दूसरा अंश उद्घाटित कर दिया। अब यदि कोई सत्य के एक अंश को ही सम्पूर्ण सत्य मानकर अपने को सत्य और दूसरे को मिथ्या घोषित कर दे तो कलह होना अवश्यम्भावी है। इतिहास में यही हुआ और धर्म के नाम पर जितने युद्ध हुए किसी ओर कारण नहीं हुए।

भगवान् महावीर ने कहा कि सत्य के अनेक पक्ष हैं। पक्ष अनेक हैं इतना ही नहीं प्रत्युत ये पक्ष परस्पर विरोधी भी हैं। यदि अस्तित्व एक आयामी ही होता तो संसार में कोई विविधता होती ही नहीं। अस्तित्व बहुआयामी है। पदार्थ सामान्य-विशेष, नित्य-अनित्य, सत-असत, वक्तव्य-अवक्तव्य की समष्टि है। ये धर्म परस्पर विरोधी हैं। किसी एक धर्म के प्रतिपादन का अर्थ उसके प्रतिपक्षी धर्म का अपलाप करना नहीं है। यह भेद में अभेद अथवा अनेकता में एकता को देखने की दृष्टि है।

इस दृष्टि का मूल भी वीतरागता ही है। विचार के प्रतिवीतरागता रखे बिना दुराग्रह नहीं छोड़ा जा सकता।अपने विचार हमें बहुत प्रिय होते हैं। किनतु दूसरे को भी तो अपने विचार उसी प्रकार प्रिय हैं। यदि हम उसके विचारों पर चोट करेंगे तो उसे कैसा लगेगा? अत: दूसरे के विचारों पर चोट न करें, उन्हें सहानुभूतिपूर्वक समझने का प्रयत्न करें और प्रयत्न करें कि विरोधी विचारों के बीच समन्वय स्थापित हो सके। किन्तु इसके लिये एक गहरी तटस्था चाहिये जो अहङ्कार और ममत्व के विसर्जन के बिना सम्भव नहीं है।

भगवान महावीर और स्वास्थ्य

दयानन्द भार्गव

यह एक सुखद संयोग है कि आज महावीर जयन्ती के साथ ही विश्व स्वास्थ्य दिवस भी है। भगवान महावीर के सन्देश को किसी एक शब्द में समेटना हो तो वह शब्द 'स्वास्थ्य' है। बल्कि यह कहना चाहिए कि भगवान महावीर ही नही, पूरे भारतीय धर्म-दर्शन का सार 'स्वास्थ्य' की उपलब्धि है। 'स्वास्थ्य' अर्थात् 'स्व में स्थित होना'। भारत में अनेक दार्शनिक तथा धर्मिक धाराएं उत्पन्न हुई, किन्तु उन सबने मोक्ष को परम पुरुषार्थ माना और मोक्ष का अर्थ 'अपने में स्थित हो जाना' अथवा 'स्वस्थ' हो जाना ही है। इस 'स्वास्थ्य' को जैन परम्परा में 'स्वभाव' कहा गया और महर्षि पतञ्जलि ने 'स्वरूप' कहा; दोनों एक ही बात है।

जिस स्वास्थ्य अर्थात् रोगों के अभाव की बात हम सामान्य बोलचाल की भाषा में करते है, उसका भी मूल स्रोत स्व में स्थित होना ही है। हम अपने स्वभाव से जितना दूर चले जाते है, उतना ही रोगों से आक्रान्त हो जाते है। ये रोग पहले मन पर आक्रमण करते है, फिर शरीर को धर दबोचते है। भगवान महावीर ने चार प्रमुख रोग गिनाए- मान, माया, क्रोध, लाभ। इन चार से जो जितना मुक्त है, वह उतना ही निरोग है। भगवान महावीर ने इन चार रोगों को कषाय कहा अर्थात् येहमारे शुद्ध स्वरूपों को रंग कर विकृत कर देते है। जो इन चार कषायों को जीत लेता है, वही जिन है और उस जिन का उपासक ही जैन है । मूलत: जैनत्व एक सम्प्रदाय-निरपेक्ष, किन्तु मूल्यसापेक्ष अवधारणा है।

जैन अहिंसा के लिए प्रसिद्ध है, किन्तु भगवान महावीर ने हिंसा का मूल राग-द्वेष को माना। जहां-जहां राग-द्वेष है, वहां-वहां हिंसा है, और जहां-जहां राग-द्वेष नहीं है, वहां-वहां अहिंसा है। राग-द्वेष नही होगा तो दूसरे को पीड़ा देने का प्रसंग तो स्वत: ही उत्पन्न नहीं होगा। भगवान महावीर ने जो अहिंसा का मन्त्र दिया उसे तो सौभाग्य से आज पूरे विश्व में जपा जा रहा है, किन्तु उन्होंने एक दूसरा मन्त्र उपरिग्रह का ीाी दिया, जो उनकी मौलिक देन है। उन्होंने इस युति का साक्षात्कार किया कि अपरिग्रह के बिना अहिंसा अधूरी है।

यह सच है कि भगवान महावीर के धर्म में त्याग और संयम की प्रमुखता है। इसीलिए उसमें सन्यासी का स्थान बहुत ऊंचा है, किन्तु गृहस्थ को भी अपने भोगोपभोग की सीमा तो बांधनी ही चाहिए। भोग की अनियन्त्रित इच्छा सामाजिक

जीवन को भी विषाक्त कर देती है। टूटते परिवार, अकलेपन का विषाद, अनिद्रा, हृदय-रोग, रक्तचाप, मधुमेह, भ्रष्टाचार, आतंकवाद आदि आधि-व्याधि हमारे विकास के खोखलेपन को दर्शाती है। इस खोखलेपन की चर्चा देश-विदेश में सर्वत्र हो रही है, किन्तु इसके पीछे जो भाग की असीम लालसा है, उसे सीमित करने की बात करने से हम कतराते है।

भगवान महावीर की परम्परा में एक दूसरा बहुमूल्य सिद्धान्त अनेकान्त का मिलता है। इस सिद्धान्त का प्रयोजन शुष्क वाद-विवाद करना नहीं है। अनेकान्त का अर्थ है कि सत्य बहु-आयामी है। वस्तु में परस्पर विरोधी धर्म भी रहते है। हम समन्वय का मार्ग लें, अति का मार्ग नहीं। मन सहज ही एक पक्ष को लेकर विरोधी पक्ष का खण्डन करने को आतुर रहता है। क्या दर्शन और क्या राजनीति, सर्वत्र यही दुराग्रह-पूर्ण पक्षपात दिखाई पड़ता है। सत्य पक्षपात में नही, निष्पक्षता में है।

गहराई में जाएं तो निष्पक्षता, अपरिग्रह और अहिंसा एक ही सत्य के तीन रूप है। अपनी हन साधना और कठोर तपस्या के बल पर जिस सत्य का साक्षात्कार भगवान महावीर ने किया, उस सत्य में हित सबका है, अहित किसी का नही। इसलिए उनका तीर्थ वस्तुतः सर्वोदय तीर्थ है।

आचार्य भिक्षु: व्यक्ति एवं चिन्तक

आचार्य भिक्षु के विचारों का अनुशीलन क्यों ?

आचार्य भिक्षु का नाम अपरिचित नहीं तो सुपरिचित भी नहीं हैं। वे एक जैन साधु थे। इस नाते जन संप्रदाय में तो लोग उन्हें न्यूनाधिक रूप में जानते हैं किन्तु जैन संप्रदाय से बाहर उन्हें कम ही लोग जानते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि वे एक प्रखर चिन्तक थे। उनका चिन्तन मानव-मात्र के कल्याण में सहायक हो सकता है। आवयकता इस बात की है कि उनके चिन्तन को सम्प्रदाय से मुक्त करके देखा जाये। उदाहरणत: उन्होंने इस बात पर बल दिया कि गलत रास्ते पर चलने वाले की सहायता करने वाला भी गलती करता है; सहायता करने से पहले यह विचार कर लेना आवश्यक है कि जिसकी हम सहायता करना चाहते हैं वह सहायता का पात्र भी है या नहीं? उन्होंने कहा कि एक के हित पर चोट करते दूसरे की सहायता करना उचित नहीं है। इसी प्रकार उन्होंने बताया कि शुद्ध लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अशुद्ध साधन नहीं बरतने चाहिए। उन्होंन बताया कि अध्यात्म के नियम शाश्वत हैं किन्तु सामाजिक नियम सामयिक होते हैं और देशकालानुसार बदले जा सकते हैं। इस प्रकार के अनेक ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन उन्होंने किया जिनका संबंध किसी संप्रदाय से नहीं है अपितु जो सर्वजनोपयोगी ह इसलिए उन सिद्धान्तों का अनुशीलन आवश्यक है।

संक्षिप्त जीवन परिचय:

आचार्य भिक्षु का जन्म राजस्थान के एक अल्प परिचित ग्राम कंटालिया में 1 जुलाई 1726 ईस्वी को हुआ। ग्राम तब जोधपुर राज्य के अंतर्गत आता था। वे ओसवाल जाति के थे और उनका गोत्र संकलेचा था। उनके पूर्वज जैन धर्म स्वीकार करने के पहले चौहान राजपूत थे। आचार्य भिक्षु के पिता का नाम शाह बल्लूजी तथा माता का नाम दीपाजी था। आचार्य भिक्षु ने उस समय की प्रथानुसार महाजनी हिसाब-किताब की शिक्षा प्राप्त की। वे व्यवसाय-कुशल थे किन्तु उनका मन संसार में नहीं लगा। उन्होंने अपनी पत्नी सहित ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया और एकान्तर अपवास करने लगे। इससे पहले कि वे दीक्षा ले पाते, उनकी पत्नी का देहान्त हो गया।

उनकी माता ने दृढ़ निश्चय देखकर उन्हें साधु दीक्षा की अनुमति दे द ी। और वे सन १७५१ में जैन स्थानकवासी संप्रदाय के आचार्य रघुनाथजी के पास दीक्षित हो गये।

तत्कालीन परिस्थिति:

यह वह समय था जब दिल्ली में १७०७ में औरंगजेब के मृत्यु के अनन्तर मुगल साम्राज्य का ह्रास होना प्रारम्भ हो चुका था। भारतीय रजवाड़ों क राजाओं की पारस्परिक फूट अपने पूरे यौवन पर थी उसी फूट का फायदा उठाकर अंग्रेजों ने १७५७ में प्लासी के युद्ध की विजय के बाद निरन्तर सफलता प्राप्त करते हुए दिल्ली की ओर बढ़ना चालु किया हुआ था।

समाज अज्ञान तथा रूढ़ियों में डूबा था। सामन्तवादी युग था। अन्धविश्वास फैले थे। विद्या का प्रचार बहुत कम था। यद्यपि लोग धर्मप्रिय थे किन्तु राजनैतिक तथा सामाजिक ह्रास के साथ धर्म संस्था में भी ह्रासोन्मुख थी। साधु भी प्राय: मर्यादा का उल्लंघन कर रहे थे।

एक क्रांति:

अकस्मात् जैन स्थानकवासी संप्रदाय के कुछ गृहस्थों में अपने ही संप्रदाय के साधुओं के शिथिलाचार के प्रति विद्रोह का भाव उठ खड़ा हुआ। यह घटना सन १७५८ की है। आचार्य रघुनाथ जी ने अपने शिष्य मुनि भिक्षु को उन गृहस्थों को शान्त करने के लिए भेजा, किन्तु मुनि भिक्षु ने पाया कि गृहस्थ जो आपत्ति कर रहे थे वे ठीक थी। उन्होंने अपने गुरु आचार्य रघुनाथी जी को गृहस्थों की आपत्ति के अनुसार संघ के नियमों में सुधार करवाने की चेष्ठा की किन्तु वे सफल नहीं हुए अन्ततोगत्वा उन्हें आचार्य रघुनाथ जी से अपना संबंध तोड़ना पड़ा वे उनके संघ से अलग हो गये। उनके साथ दूसरे भी चार साधु संघ से अलग हो गये। ये घटना सन १७६० की है।

विरोध:

इधर ये पांच साधु एक ओर थे तो दूसरी ओर एक शक्तिशाली संघ था। उस संघ को इन पांच साधुओं का संघ से अलग होना सुहाया नहीं। इनके बारे में सब तरह की कठिनाईयां पैदा की गयी। साधु का जीवन भिक्षा-चर्यापर चलता है। पूरे प्रयत्न हुए कि उन्हें कोई ठहरने की जगह न दे और न ही भिक्षा। जैन साधु की चर्या यूँ तो स्वत: ही कठिन ही होती है किन्तु आचार्य भिक्षु और उनके साथी साधुओं के लिए तो पूरे समाज में विरोध का वातावरण तैयार कर दिया गया था। अत: उनका समय अत्यन्त कष्टमय बीता।

तेरापंथः सत्य की खोजः

सत्य के अन्वेषक के लिए जो भी कठिनाईयां आती है वे सभी कठिनाईयां आचार्य भिक्षु पर एक साथ आयी किन्तु वे अपने पथ से जरा भी विचलित नहीं हुए। वे पांच साधु थे, ८ और साधु उनके साथ आ मिले और इस प्रकार उनकी संख्या १३ हो गयी। इस तेरह की संख्या के आधार पर उनके अनुयायी साधुसमूह का नाम तेरापंथ हो गया। उधर जैन परम्परा में पांच व्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति को मिलाकर चरित्र के तेरह घटकों की बात प्रसिद्ध थी। अतः आचार्य भिक्षु ने इस नाम को स्वयं भी स्वीकार कर लिया। पिछले दो शतकों में आचार्य भिक्षु का यह तेरापंथ गंगा के प्रवाह की भांति विस्तृत तर होता चला गया। वर्तमान में उनकी व्यासपीठ पर इस संप्रदाय के दशम आचार्य महाप्रज्ञ आसीन हैं।

शास्त्रार्थः

पिछले दो दशकों में आचार्य भिक्षु के सिद्धान्तों की बहुत कटु आलोचना हुई और उस आलोचना का प्रत्युत्तर भी दिया गया। आज से पचास-साठ वर्ष पहले तक शास्त्रार्थ का युग था। शास्त्रार्थ में खींचतान भी होती ही है। इस खींचतान में आचार्य भिक्षु के सिद्धान्त ऐसे विवाद का विषय बन गये जो विवाद न महत्त्वपूर्ण है न सार्थक। अब शास्त्रार्थ का युग नहीं है। आवश्यकता है कि आचार्य भिक्षु के सिद्धान्तों को खींचतान के धुन्द से निकाल कर देखा जाये।

अहिंसा :

आचार्य भिक्षु का विशेष योगदान अहिंसा के सम्बन्ध में है। आचार्य भिक्षु के बाद महात्मा गांधी ने अहिंसा के ऐसे प्रयोग किये कि अहिंसा की चर्चा अन्तर्राष्ट्रीय पर होने लगी। पहले आणविक शस्त्रों के आविष्कार होने पर युद्ध के विरु द्ध शान्तिवादी आन्दोलन चला और फिर पर्यावरण के सन्तुलन के बिगड़ने से उत्पन्न खतरे से बचने के लिए पर्यावरण की रक्षा का आन्दोलन चला।

उसी आन्दोलन का एक भाग पशु-क्रूरता-निवारण तथा शाकाहार के प्रचार के रूप में प्रकट हुआ।

इस प्रकार अहिंसा के अनेक नये आयाम उद्घाटित हुए। आचार्य भिक्षु ने अहिंसा की अवधारणा को जो अवदान दिया उसे युगानुकूल रूप में प्रस्तुत किया जाना मानव-जाति के हित के लिए परमावश्यक है।

साहसिक कदम :

जैन साधु अपने अनुयायी गृहस्थों में भगवान् की तरह पूज्य होता है। गृहस्थ जैन साधु में दोष दिखाये–प्रथम तो यही स्थिति अकल्पनीय है, फिर साधु गृहस्थ की बात को सत्य मान ले– यह तो और भी दुर्लभ घटना है। आचार्य भिक्षु ने यही करके दिखाया। इससे उनकी सत्यप्रियता स्पष्ट होती है। गृहस्थ की बात तो उचित होने पर मान लेना आचार्य भिक्षु की विनयशीलता को प्रकट करती है।

व्यक्तित्व की झलक : व्यवहार में अहिंसा

आचार्य भिक्षु ने विरोधियों को न केवल सहन किया प्रत्युत उनके बीच अपना विनोदी स्वभाव भी बनाये रखा। एक व्यक्ति उनके पास आया और बोला कि आज आपका मुंह देखा है तो मझे नरक में जाना पड़ेगा। आचार्य भिक्षु बोले कि जो तुम्हारा मुँह देखता है वह तो स्वर्ग में जाता होगा। व्यक्ति बोला कि यह सच है। आचार्य जी तत्काल बोले कि मैंने तुम्हारा मुँह देखा है तो मेरा तो स्वर्ग जाना निश्चित है। अब तुम अपनी चिन्ता करो। एक कटूता मधुर हास्य में परिणत हो गयी।

एक अन्य व्यक्ति उनके पास आया और कहा कि अमुक व्यक्ति आपमें दोष निकाल रहा है। आचार्य श्री तत्काल बोले कुछ वह निकाल रहा है, कुछ मैं निकाल रहा हूँ। दोष तो निकालने के लिए होते हैं। उन्होंने आलोचना को आत्मालोचन में बदल डाला।

एक व्यक्ति को आचार्यजी के पास भड़का कर भेजा कि आचार्य जी भगवान् की प्रतिमा को पत्थर बताते हैं। उसने आचार्य जी से पूछा कि क्या यह सच है? आचार्य जी ने कहा कि हम सब प्रतिमाओं को पत्थर की नहीं बताते। सोने की हो तो सोने की, चाँदी की हो तो चाँदी की और पत्थर की हो तो पत्थर की बताते हैं। बात की दिशा ही मोड़ दी।

एक व्यक्ति ने आचार्य जी से पूछा कि यहाँ सच्चे साधु कौन है? आचार्य जी ने कहा मैं तुम्हे सच्चे साधु के लक्षण बता देता हूँ फिर तुम स्वयं देख लेना कि कौन साधु सच्चा है, कौन झूठा है। इस प्रकार के व्यक्तिगत आक्षेप करने से बच गये।

एक स्थानवासी साधु आचार्य जी के पास एकान्त में कुछ बात करके गया। आचार्य जी के साथी साधु हेमराज जी ने पूछा कि वह क्या बता कर के गया। आचार्य जी ने कहा कि वह एक दोष की आलोचना करने आया था।

हेमराज जी ने पूछा कि वह किस दोष ककी आलोचना करने आया था? तो आचार्य जी ने कहा कि वह बताना मेरे लिए उचित नहीं। जो हम पर विश्वास करे उसके मर्म उद्घाटित नहीं करने चाहिएँ।

ऐसी एक नहीं सकड़ों घटनायें हैं जो आचार्य भिक्षु के व्यक्तित्व का सौन्दर्य रेखांकित करती है। यह उनका असाधारण मनोबल था कि नितान्त प्रतिकूल परिस्थिति में भी उन्होंने अपना मानसिक सन्तुलन नहीं खोया बल्कि सबके प्रति अपना सौहार्द बनाये रखा। यह इसलिए सम्भव हुआ कि वे आमूलचूल करुणा में भीगे हुए थे।

सत्य के सब पुजारियों के साथ होता है वही आचार्य भिक्षु के साथ ही हुआ । उन्हें जो संकट झेलने पड़े उनकी कल्पना भी आज नहीं की जा सकती।

मेरे मित्र साहित्य - रसिक स्वर्गीय श्री कन्हैयालाल जी फूलफगर ने आचार्य भिक्षु के सम्बन्ध में ठीक ही कहा हैं-

गंगा-जमुन सा निर्मल जीवन
सत्य-शोध के प्रबल पुजारी
मरघट में भी अलख जगाया
अलबेले बाँके अवतारी
सुख वैभव भावी पीढ़ी को
कालकूट तुम स्वयं पी गये
मृत्यु भला क्या तुम्हें मारती
मरकर भी तुम पुनः जी गये।

दूसरी ओर आचार्य भिक्षु की व्यासपीठ पर विराजमान आचार्य महाप्रज्ञ आचार्य भिक्षु की गौरव-गाथा इन शब्दों में गायी-

मृत्युधाम में रहकर तुमने
मृत्युञ्जय ! अमृतत्व पालिया
अन्धकार में रहकर तुमने
सस्वर दीपक राग गा लिया

-गुरुता का नमन पृ. १४

अमृत की खोज :

इन पंक्तियों को पढ़कर याद आती है उपनिषद् की प्रार्थना असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माअमृतं गमय।

मृत्यु जीवन का एक अटल सत्य है और अमृतत्व की इच्छा एक अमिट इच्छा है। मृत्यु धाम में अमृतत्व पाने की यह इच्छा ही किसी अतीन्द्रिय सत्य की खोज बन जाती है क्योंकि जो कुछ इन्द्रिय-गोचर है वह तो सब मरणशील है अत: यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अतीन्द्रिय होना चाहिए।

जैसे ही हम इन्द्रिय-गोचर संसार से अतीन्द्रिय के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं हमारी सामान्य मान्यतायें उलट जाती हैं। इन्द्रियों के जगत में जो कुछ प्रिय प्रतीत होता है अतीन्द्रिय जगत् में वही अश्रेयस्कर लगने लगता है। 'ऐसे भोग लागै जैसे नाग काले काले हैं।'

श्रेयस् और प्रेयस् :

यही श्रेयस् और प्रेयस् का शाश्वत विरोध है- श्रेयश्च प्रेयश्च विपरीतमेतौ। इनका परस्पर विरोध ही नहीं है इनका फ ल भी परस्पर विरोधी है- दूरमेतं विपरीते विषूची।

आचार्य भिक्षु श्रेयस् पथ के अनुगामी थे इसलिए उन्हें प्रेयस् नहीं सुहाया और जो प्रेयस के अनुगामी थे उन्हं आचार्य भिक्षु नहं सुहाये, तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं है। चाहे तर्क प्रमाण से देखें अथवा आगम-प्रमाण से जो आचार्य भिक्षु का विरोध करते हैं उसका एकमात्र आधार यह है कि उन्हें प्रेयस् पथ से प्रेम है। कठिनाई यह है प्रेयस् पथ के प्रेमी यह सिद्ध करने में लगे हैं प्रेयस् की आराधना भी श्रेयस् की ही आराधना है। जो विष को विष जाने और माने वह कभी विष को छोड़ कर अमृत को पा सकेगा- यह आशा की जा सकती है किन्तु विष को ही अमृत सिद्ध करने पर तुला हो उसके अमृतपान करने की आशा दुराशा मात्र है।

भोगासक्ति :

इन्द्रियों का जगत् मरणधर्म है। मृत्यु से हम सब डरते हैं किन्तु मृत्यु के हेतुभूत भोगों को ऐन्द्रिक आकर्षण से कितने लोग मुक्त हो पाते हैं? आचार्य भिक्षु ऐन्द्रिक भोगों की भयंकरता से हमें सावधान कर रहे हैं किन्तु जन्मजन्मान्तर की भोगों की आसक्ति के दृढ़ संस्कारों से कितने लोग छूट पाते हैं? ऐसे में आचार्य भिक्षु का सिंहनाद है- संसारवाँ सुख तो छे पुद्गल तणां रे ते तो सुखनिश्चे रोगी ला जावरे ते करमाँ बसगमता लागेजीव ने रे त्या सुखाँरी बुधिवंत करो पिछारे (नवपदारथ १२.३)

ये पौद्गलिक सुखों की आसक्ति ही बन्धन है। किन्तु सामान्य व्यक्ति इन्हीं सुखों की प्रशस्ति गाया करते हैं। जब आचार्य भिक्षु ने इन सुखों की पोल खोली तो राग में पगे व्यक्ति परेशान हो उठे।

एहवां सुखाँ सूँ जीवराजी हुवे रे, तिणरे लागे छे पापकरमाँरोपूपपे।
पछे दुःख भोगवे छेनरकनिगोदमें रे मुगतिसुखाँ सूँ पडियो दूर रे।।

(नवपदारथ १२.५)

परोपकार का स्वरूप :

धर्म का सार यह है कि जो अपने लिए हितकर नहीं है वह दूसरों के लिए भी नहीं करना चाहिए।

श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।।

यदि स्वयं मेरे लिए भोग अहितकर हैं तो दूसरों के लिए भोग के साधन जुटाना धर्म कैसे हो सकता है?

जितना उपगार संसार तणाँ छे जे जे करे ते मोह बस जाणों
साध तो त्यानें कदेन सरावे संसारी जीव तिणरा करसी बाकणों

(अणुकम्पा ११.३८)

मोह की माया अपरम्पार है। जो सांसारिक सुखों की गर्हनीयता प्रतिपादित करते नहीं थकते वे ही किसी को भोगों की सामग्री अन्न वस्त्रादि देने को धर्म अहिंसा की कोटि में गिनाने लगें तो तर्क की कसौटी पर यह कैसे खरा उतर सकता था? आचार्य भिक्षु ने रूढि की चिन्ता किये बिना जो तर्कसंगत तथा उसकी निर्भिक भाव से घोषणा कर दी।

नितरा उपगार संसार नाँ, ते तो सगलाई सावद्य हो

(अनुकम्पा ४.१८)

इस घोषणा से हड़कम्प मच गया। गरीब को भोजन खिलाकर और नंगो को कपड़े देकर ही तो सब धर्म का पालन करना मान रहे थे। ऐसे में यह घोषित कर देना कि यह धर्म नहीं है, प्रचलित मान्यताओं की आधारशीला पर ही चोट करना था। लगा कि एक ओर तो जो अभाव में जी रहे हैं उनकी दान पर चलने वाली आजीविका छीनी जा रही है। और दूसरी ओर जो सम्पन्न लोग असहाय लोगों की सहायता करके पुण्य अर्जित कर रहे थे, उन्हें उस पुण्यार्जन से वंचित किया जा रहा है।

गरीबी का कारण :

हम लोग कार्य को मिटाने की बात सोचते रहते हैं, कारण पर ध्यान नहीं देते। हिंसा एक कार्य है वह कारण नहीं है। उसका कारण है- सामाजिक और आर्थिक विषमता। उसका कारण है- उच्चवर्ग का विलासिता एवं सुख-सुविधापूर्ण जीवन। उसका कारण है निम्नवर्ग की उपेक्षा। इन कारणों की समाप्ति हो तो हिंसा अपने आप कम हो जाती है। (अहिंसा और शांति पृ. ५५)

निर्धनता दूर करने का उपाय भीख देना नहीं है, निर्धनता दूर करने का उपाय यह है कि शोषण-विहीन समाज की स्थापना की जाये। दान की प्रशंसा करना प्रकारान्तर से इस विषमता का ही समर्थन करना है कि एक दाता है और दूसरा भिखारी है। शोषण हिंसा है, विषमता निर्दयता है। शोषण न हो- यह सच्ची अहिंसा है। 'णो हीने णो अइरित्ते' वाला समता का घोष भगवान् महावीर ने २६०० वर्ष पूर्व किया। निहित स्वार्थ वालों ने न शोषण बन्द किया न विषमता को मिटने दिया बल्कि दान को धर्म बताने की आड़ में अपने आपको पुण्यात्मा घोषित कर दिया। तब कार्ल मार्क्स जैसे लोगों को धर्म को, गरीबों को नशा सुला देने वाली अफीम बताने के लिए मजबूर होना पड़ा। काश! कार्ल मार्क्स को कहीं आचार्य भिक्षु मिल गये हो तो कार्ल मार्क्स धर्म को सुलाने वाली अफीम न कह कर सोते हुए को जगाने वाला शंखनाद कहना पड़ता।

धन से धर्म नहीं :

आचार्य भिक्षु ने कहा कि धन से धर्म नहीं होता- **धनेन किं धम्मधुराहिगारे।** (उत्तराध्यायन १४.१७)

यह पूंजीवाद की शोषणवादी परम्परा पर सीधी चोट है जो धन से धर्म्म की साधना करने पर टिकी है -- **धनाद्धर्म ततः सुखम्।**

आचार्य भिक्षु ने तर्क दिया-

जो धनथकी धर्मनीपजे तो देवता पिण धर्म करंत।

(अणुकम्पा १२.५)

देवता धर्म की साधना नहीं कर सकते। इस घोषणा ने मनुष्य के गौरव को स्थापित कर दिया- **देवावि तं नमंस्सन्ति जस्स धम्मे सया मणो** (दशवैकालिक १.१)

स्वर्ग नहीं, निर्वाण :

कार्लमार्क्स जिस धर्म से परिचित थे वह स्वर्गवादी था वे निर्वाणवादी अवधारणा से अपरिचित थे। जिन भोग विलासों पर पूंजीवाद टिका है उन्हीं भोग-विलासों का

उत्कृष्ट स्वरूप स्वर्ग है। यदि स्वर्ग ही जीवन का चरम लक्ष्य है तो उसका यह अर्थ होगा कि भोग-विलास की प्राप्ति ही जीवन का परम लक्ष्य है। इस प्रकार स्वर्गवादी धर्म सहज ही पूंजीवाद का समर्थक बन जाता है।
भारत के धर्मों का स्वर स्वर्गवादी नहीं, निर्वाणवादी है। स्वर्ग शुभलेश्या का फल है किन्तु निर्वाण लेश्यातीत स्थिति है। सांख्य की भाषा में स्वर्ग त्रिगुणात्मक है, निर्वाण त्रिगुणातीत है।

विभाव और स्वभाव :

एक दूसरी भाषा में कहें तो स्वर्ग की स्थिति वैभाविक है, मोक्ष की स्थिति स्वभाविक है। जिसे हम सुख या दु:ख कहते हैं वह भी वैभाविक स्थिति ही है क्योंकि वह पुद्गल के अधीन है। स्वाभाविक स्थिति किसी के पराधीन नहीं है। स्वर्ग के सुख भी वभाविक ही हैं। केवल निर्वाण का सुख स्वाभाविक है। वैभाविक सुख पराधीन है और उनकी अनुभूति का माध्यम इन्द्रियाँ तथा मन है किन्तु अहिंसा की दुनिया निराली है।
'शरीर और इन्द्रिय इन दोनों की अनुभूतियों से परे जो सच्चाई है वहां अहिंसा के बीज का अंकुरण होता है। मैं शरीर नहीं हूँ-- यह इन्द्रियानुभूति से परे का सत्य है। इन्द्रियों की मांग को पूरा करते रहना मानवीय जीवन की सार्थकता नहीं है। यह बात इन्द्रियानुभूति से जैसे प्रकट होती हैं, वैसे-वैसे अहिंसा का विकास होता है।'

(अहिंसा और शांति पृ. ७५)

वैभाविक सुख पराश्रित है अर्थात् परिग्रह के अधीन है। बिना बाह्य अथवा आन्तरिक परिग्रह के वैभाविक सुख प्राप्त नहीं हो सकता।

परिग्रह की मूर्च्छा :

परिग्रह की मूर्च्छा ही वैभाविक सुख की प्रतीति कराती है। मूर्च्छा टूट जाये तो काम-भोग सुख रूप नहीं प्रत्युत दु:ख रूप प्रतीत होने लगते हैं। काम-भोग सुख रूप लगें फिर भी उन्हें छोड़ दिया जाये-- यह हठयोग है, काम-भोग दु:ख रूप प्रतीत होने से स्वयं ही छूट जायें यह सहज वैराग्य है। राग मल है, वैराग्य निर्मलता है।

अहिंसा निर्मल चेतना की अनुभूति है। राग-द्वेष और मोह ये मल हैं। इनसे चेतना मलजीन होती रहती है। राग की उत्तेजना, द्वेष की उत्तेजना और मोह की उत्तेजना। इसका अर्थ है चेतना की मलिनता। राग-द्वेष और मोह की प्रवृत्ति सहज है। पदार्थ

का उद्दोपन मिलता है वे उभर आती हैं। पदार्थवादी और सुविधावादी दृष्टिकोण चेतना की निर्मलता के लिए खतरा बना हुआ है। एक लालसा भीतर ही भीतर पनप रही है कि प्रिय वस्तु का संयोग हो, उसका वियोग न हो।

(अहिंसा और शांति पृ. ४७)

इस विसंगति को समझना आवश्यक है। परिग्रह से एन्द्रिक सुख मिलता है। यह सुख आत्मा का सहज सुख नहीं है। न इस सुख का स्वयं भोगना अहिंसा है, न किसी दूसरे को ऐसा सुख भोगने में सहायता देना अहिंसा ह। यह तात्विक स्थिति है किन्तु क्योंकि अधिकतर व्यक्ति ऐन्द्रिक सुख में ही रमण करते हैं अत: उन्हें वे सुख अनुकूल प्रतीत होते हैं और दूसरों को भी ऐसा सुख उपलब्ध कराना वे पुण्य का कार्य समझते हैं।

पारमार्थिक अहिंसा :

वस्तुत: हिंसा आत्मा के अपने निर्मल स्वरूप को वैभाविक सुखों की मूच्र्छा से आवृत करने में है। तब दूसरों को ऐसे सुख उपलब्ध कराना भी हिंसा ही हुई। यह बात हमारी सामान्य मान्यता के विरुद्ध होने के कारण सरलता से हृदयङ्गम नही हो पाती किन्तु तर्क की कसौटी पर यही बात खरी उतरती है।

आचार्य भिक्षु ने जब यह कटु सत्य प्रकट किया तो उनका तीव्र विरोध हुआ। इस विषय में थोड़ा और विस्तार में जाना होगा।

परिग्रह और हिंसा का अविनाभाव सम्बन्ध है। परिग्रह और हिंसा दोनों परस्पर जुड़े हुए हैं। परिग्रह के लिए हिंसा होती है और हिंसा के लिए परिग्रह होता है। ये दोनों एक ही वस्त्र के दो छोर हैं। (अहिंसा और शांति पृ. ७२)

आदमी हिंसा किस लिए करता है? शरीर के लिए, परिवार के लिए, भूमि, धन और सत्ता के लिए ये सब परिग्रह है। कोई अहिंसा करना चाहे और अपरिग्रह करना न चाहे यह कभी सम्भव नहीं।

-कैसी हो इक्कीसवी शताब्दी पृ. १६३

बहुत सारे व्यक्ति अहिंसक बनना भी चाहते हैं पर वे जीवनक्रम को ब दलते नहीं, इसलिए वे अहिंसक नहीं बन पाते। हिंसा की कमी परिग्रह की कमी पर निर्भर है। (अणुव्रत दर्शन पृ. ९)

शरीर का धर्म :

हम केवल आत्मा नहीं हैं, अपितु आत्मा और शरीर का संगम हैं। आत्मा को परिग्रह नहीं चाहिये लेकिन शरीर को रोटो, कपड़ा, मकान और औषधि, ये सब चाहिये। ऐसे में क्या हम परिग्रह अथवा हिंसा से सर्वथा बच सकते हैं ?

जीव जीव का भोजन है- **जीवो जीवस्थ भोजनम्।**

भोजन जीवन की प्रथम आवश्यकता है । ऐसे में भोजन के लिए हिंसा की अपरिहार्यता स्पष्ट है। तथापि हम भोजन छोड़ नहों सकते। किन्तु क्या इस भोजन के लिए किये जाने वाली हिंसा को अहिंसा मान लिया जायेगा? क्या हमें यह अधिकार है कि हम अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए दूसरे का अस्तित्व समाप्त कर दें? यदि हम ऐसा मानेंगे तो हमें दूसरों को भी यह अधिकार दना होगा कि वे अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए हमारा अस्तित्व समाप्त कर दें। तब निर्धनता के कारण भूख से मरने वाले व्यक्ति को यह अधिकार देना होगा कि वह बलपूर्वक धनी का धन छीन ले ताकि अपनी भूख मिटा सके। विचार करें तो पता चलेगा कि ऐसे अधिकार की स्वीकृति का अर्थ होगा- जंगल का राजा।

अहिंसा का निरपराध रूप

आचार्य भिक्षु ने अहिंसा की परिभाषा करते समय किसी अपवाद को स्वीकार नहीं किया। अपरिहार्यता की स्थिति हो तो भी हिंसा हिंसा है। बड़ो को बचाने के लिए छोटों की हिंसा तो सर्वथा अन्याय है। न्याय की स्थापना इसलिए की जाती है कि बड़ों से छोटों की रक्षा की जाये। इसलिए ही अल्पसंख्यक आयोग की स्थापना की गयी है। बहुसंख्यकों के हित के लिए अल्पसंख्यकों के हित की बलि नहीं दी जा सकती। आचार्य भिक्षु ने आज से दो शतक पूर्वक घोषणा कर दी थी।

राँ काँ ने मार घींगाँ ने पोव्याँ, एतां बात दी से घणी गेरी

-व्रताव्रत ७.४

न्याय की दृष्टि में सब समान हैं, छोटे बड़े का भेद न्याय के सामने नहीं है। अहिंसा के सम्मुख भी सबको जीन का अधिकार समान रूप से है।

अहिंसा विधेयात्मक रूप :

अब तक की चर्चा से यह लगेगा कि अहिंसा एक निषेधात्मक मूल्य है। अहिंसा शब्द भी निषेधपरक है। किन्तु अहिंसा का विधायक पक्ष भी है।

रागद्वेषात्मक प्रवृत्ति न करना, प्राण बन्ध न करना निषधात्मक अहिंसा है। सत् प्रवृत्ति करना, स्वाध्याय, अध्यात्म सेवा, उपदेश, ज्ञानचर्या आदि-आदि आत्महितकारी क्रिया करना विधेयात्मक अहिंसा है।

-अहिंसा तत्त्व दर्शन पृ.८

यह सर्वसम्मत मत है। प्रश्न यह है कि क्या किसी जरूरतमन्द को भौतिक पदार्थ उपलबध कराना भी अहिंसा का हिस्सा है या नहीं? इस प्रश्न के उत्तर में हमें विभज्यवाद से काम लेना होगा। जैसे किसी को कष्ट न देना मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है वैसे ही किसी की सहायता करना भी मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। किन्तु सहायता करने में दो प्रश्न मुख्य है।

१. जिसकी सहायता की क्या वह सहायता का पात्र था?

२. सहायता करने का साधन क्या शुद्ध था?

एक चोर का पीछा पुलिस कर रही है। हमने चोर को अपने घर में छिपा लिया। चोर पुलिस की पकड़ से बच गया। यह चोर को सहायता तो हुई किनतु क्या ऐसी सहायता करना उचित है? चोर की सहायता करना इसलिये अनुचित है कि चोर सहायता का पात्र नहीं है।

हिंसक सहायता का अपात्रः

यदि चोर सहायता का पात्र नहीं है तो क्या हिंसक सहायता का पात्र है? जैसा पाप चोरी करना है, वैसा पाप हिंसा करना है। यदि चोर सहायता का पात्र नहीं है तो हिंसक सहायता का पात्र कैसे हो जायेगा? पात्रता का विचार करते समय अपराध की गुरुता लघुता पर ध्यान नहीं दिया जाता। चोर चोर है, उसने छोटी चोरी की हो या बड़ी चोरी। हिंसक हिंसक है, वह छोटी हिंसा करता हो या बड़ी हिंसा। आचार्य भिक्षु ने परोपकार की एक सीमा बांधी.. जो पाप से सर्वथा विरत नहीं हुआ उसकी सहायता करना भी स्वयं में एक पाप ही है।

इविरत सेवायां भलो जांणीया तीनूं करणा पापहो

-निह्नवचौपाइ २.५

जो पाप से सर्वथा विरत हो गया वही हमारी सहायता का पात्र है। परोपकार की यह पहली सीमा है।

परोपकार का साधन :

परोपकार की दुसरी सीमा यह है कि जिस साधन से हम परोपकार करते हैं वह साधन शुद्ध होना चाहिए। क्या हम किसी की निर्धनता मिटाने के लिए किसी दूसरे

का धन चुराकर निर्धन को दे सकते हैं? अपरिहार्य होने पर ऐसा करना पड़ जाये- यह अलग बात है किन्तु ऐसा करने को हम पुण्य कैसे मान सकते हैं?
परोपकार की इन दो सीमाओं के अन्तर्गत ही हमें अहिंसा के विधायक रूप का निर्णय करना चाहिए।

शरीर का पोषण:

शरीर एक साधन है- धर्म का भी और अधर्म का भी। यदि हम भोग में प्रवृत्त रहते हैं तो हमारा शरीर अधर्म का साधन है। ऐसे शरीर का पोषण परोक्षत: अधर्म का ही पोषण है। यदि हम साधना में प्रवृत्ति रहते हैं तो हमारा शरीर धर्म का साधन है। ऐसे शरीर का पोषण धर्म का पोषण है। इस विवेक के बिना शरीर-मात्र के पोषण को धर्म नहीं कहा जा सकता।

सहयोग का प्रश्न :

प्रश्न आता है उसका जो अंशत: धर्म में तथा अंशत: भोग में प्रवृत्त है। सामाजिक प्राणी की यही स्थिति है। समाज का आधार पारस्परिक सहयोग है। बिना पारस्परिकता के समाज का निर्माण ही नहीं हो सकता। सामान्य व्यक्ति व्यक्ति भी है और समाज का घटक भी है। व्यक्ति के रूप में वह आत्मधर्म का पालन करता है और समाज का घटक होने के नाते वह समाजधर्म का पालन करता है। व्यक्ति के प्रति उसका एक दायित्व है, समष्टि के प्रति उसका दूसरा दायित्व है। उसे दोनों दायित्व निभाने हैं। इस नाते अहिंसा के भी दो रूप हो जाते हैंष- स्वाभिमुखी अहिंसा और समाजाभिमुखी अहिंसा।

क्रोध, अहंकार, भय, घृणा, द्वेष-इन सबको कम करना स्वाभिमुखी अहिंसा है। समाज के किसी व्यक्ति का शोषण नहीं करना, पीड़ा नहीं पहुँचाना, हीन भावना पैदा नहीं करना आदि-आदि समाजाभिमुखी अहिंसा है।

-अहिंसा के अछूते पहलू पृ. ७१

सच्चा सहयोग :

समाजाभिमुखी अहिंसा का यह एक पक्ष है। दूसरा पक्ष है दूसरों के आत्म-कल्याण में सहायक होना। आचार्य भिक्षु इस पारमार्थिक आत्मा परोपकार की अवधारणा को बहुत स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त करते हैं।

अज्ञानी रो ग्यानी की याँ थकाँ, हुवोनिश्चे पेला रो उधार हो।
कियो मिथ्याती रो समकती, तिण उतरीयो भव पार हो।
असंजतीने कीयो संजती, ते तो मोष तणॉदलाल हो
ग्यान दरसणचारित्तनेतप, याँरो करे कोई उपगार हो
आपतिरे पेलो उबरे, दो याँरो खेवो पार हो

–अणुकम्पा ४.२०,२१

जहाँ भौतिक पदार्थों को देकर किसी की सहायता करने का प्रश्न है हमें पात्र–कुपात्र का विचार करना होता है किन्तु ज्ञान अथवा चरित्र की प्रेरणा सबको बिना किसी भेद–भाव की दी जा सकती है। कारण यह है कि कुपात्र भौतिक पदार्थ का दुरुपयोग करना सम्भव नहीं है।

आयु और जीवन

आयु और जीवन में अन्तर है। जब तक शरीर रहता है तब तक मनुष्य की आयु बनी रहती है किन्तु आयु ही जीवन नहीं है। जीवन है वह समय जो संयम में बीतता है। शरीर का बना रहना हमारे आधीन नहीं है, हमारे आधीन संयम है। इसलिए शरीर के बने रहने की इच्छा करना निरर्थक है। जब तक आयु है शरीर बना रहेगा, जब आयु शेष हो जायेगी शरीर छूट जायेगा। इसलिए जीने की इच्छा करना भी व्यर्थ है। मरने की इच्छा करना भी व्यर्थ है।

जीव जिवे ते दया नहीं मरे ते तो हिंसा मत जाण
मारण वालो ने हिंसा कही नहीं मारे हो ते तो दया गुण खाण–अनुकम्पा ५.११

सार्थक है जीवन में संयम की इच्छा करना। परोपकार करते समय भी किसी के जीवित रहने में सहयोग देना विशेष महत्त्व का नहीं है, विशेष महत्त्व का है किसी के संयम पालन में सहयोग करना।

भावना का प्रश्न :

यह दृष्टि सर्वथा तर्क संगत है किन्तु हम केवल तर्क के आधार पर नहीं चलते हैं जीवन में भावना का भी स्थान है। कोई भूख से पीड़ित हो और हमारे पास भोजन हो तो उसे भोजन न देना एक प्रकार की क्रूरता ही है। कोई भोजन स्वयं न जुटा सके और सि दूसरे को उसे भोजन देना पड़े यह सामाजिक दुर्व्यवस्था का परिणाम ह‌ै किन्तु व्यवस्था अभी ऐसी आदर्श नहीं है कि कोई भूखा रहे ही नहीं। लाखों लोग कुपोषण अथवा भूख के शिकार होकर प्रतिवर्ष मरते हैं। ऐसी स्थिति में उन्हे जीवन की मूलभूत आवश्यकतायें उपलब्ध कराना प्रत्येक व्यक्ति का सामाजिक धर्म

है किन्तु उस सामाजिक धर्म को आत्मधर्म मानने की भूल नहीं करनी चाहिए। प्रत्येक सामाजिक धर्म अहिंसा नहीं है जबकि 'अहिंसा ही आत्मधर्म है यह कहना न तो अत्युक्ति और न अर्थवाद'।

(जैन तत्त्व चिन्तन पृ. ३८)

धर्म के अनेक रूप :

धर्म शब्द का अर्थ है- धारण करने वाला। समाज को धारण करे सो समाज धर्म और आत्मा को धारण करे सो आत्मधर्म। दोनों जगह धर्म शब्द के प्रयोग का यह अर्थ नहीं है दोनों एक ही है। समाज की स्थिति के लिए है भौतिक स्तर पर पारस्परिक सहयोग भी आवश्यक है और आत्मा को धारण करता है संयम। किन्तु भौतिक स्तर पर पारस्परिक सहयोग को संयम नहीं माना जा सकता भले ही दोनों को धर्म शब्द से ही अभिहित क्यों न किया जाता हो-

दूध आक का
दूध गाय का
नाम दूध
पर
एक नहीं है।

-गुरुता को नमन पृ. २१

धर्म एक नहीं दस हैं (ठाणं १०/१३५) किन्तु सबका स्वरूप पृथक् पृथक् है।

समाजधर्म :

भौतिक साधन शरीर को अनुकूलता प्रदान करता है, भौतिक संपन्नता समाज तथा राष्ट्र को सुदृढ़ बनाती है। अत: सामाजिक धर्म में परिग्रह का मूल्य है। समाज धर्म का आधार है- आदान-प्रदान। कोई सामाजिक प्राणी ले तो किन्तु दे नहीं तो वह समाज का कर्जदार हो जायेगा। उस कर्ज को उतारने के लिए उसे देना भी पड़ता है। कुछ दिया तब ही जा सकता है, जब हमारे पास देने को कुछ हो। यह देना तब ही संभव है जब हम संग्रह करने में हमें दूसरों को कष्ट देना होता है, संगह की रक्षा के लिए भी आततायी के विरुद्ध बलप्रयोग करना होता है। सामाजिक दायित्व बिना परिग्रह के पूरे नहीं हो सकते। किन्तु-परिग्रह और हिंसा- दोनों परस्पर जुड़े हुए हैं। परिग्रह के लिए हिंसा होती है और हिंसा के लिए परिग्रह होता है। ये दोनों एक ही वस्त्र के दो छार हैं। (अहिंसा और शान्ति पृ. ७२)

दूसरी बात, परिग्रह जिस प्रकार हमें चाहिये, उसी प्रकार दूसरों को भी चाहिये। इस कारण संघर्ष की स्थिति बनती है। यह संघर्ष एक सीमां में रहे तो स्पर्धा स्वस्थ बनी रहती है किन्तु सीमा का उल्लंघन करने पर यही संघर्ष आक्रमण बन जाता है। आक्रमण से बचने के लिए आत्म सुरक्षा के लिए बल का प्रयोग भी करना पड़ता है।

> प्रत्याक्रमणकारी हिंसा करना चाहता
> किन्तु उसे आत्मरक्षा के लिए हिंसा करने के
> लिए बाध्य होना होता है।
>
> –अहिंसा और शान्ति पृ. ७२

यह स्थिति समाज–धर्म की है।

आत्मधर्म:

इसके विपरीत आत्म–धर्म में परिग्रह अनावश्यक ही नहीं, बाधक भी है। आत्मा अपने शुद्ध रूप में स्वत: परिपूर्ण है। कोई वि जातीय तत्त्व बाह्य अथवा आन्तरिक परिग्रह के रूप में आत्मा को शुद्ध ही कर सकता है। आत्मा को अशुद्ध होने का अर्थ है उसकी परिपूर्णता का आवृत हो जाना अत: परिग्रह मात्र आत्मधर्म का विरोधी है। इसलिए सामाजिक धर्म के अन्तर्गत परिग्रह के लिए किया जाने वाला बल प्रयोग आत्मधर्म के क्षेत्र में अनावश्यक हो जाता है। इसलियें अहिंसा का निरपवाद रूप आत्मधर्म में ही प्रकट हो पाता है। समाजधर्म में अहिंसा का सापवाद रूप प्रकट होता है। समाज के लिये अहिंसा आवश्यक नहीं है– ऐसा नहीं है किन्तु समाज में हिंसा भी इस अर्थ में आवश्यक हो जाती है कि समाज परिग्रह के बिना नहीं चलता और परिग्रह का हिंसा से अविनाभाव सम्बन्ध है। यदि समाज में व्यक्ति किसी मर्यादा का पालन न करें तो सभ्यता का जन्म ही नहीं हो सकता। यह मर्यादा मुख्यत: एक दूसरे के अधिकार में हस्तक्षेप न करने की है। इस अर्थ में समाज के लिए अहिंसा परम आवश्यक है। बिना अहिंसा के समाज में मत्स्य–न्याय प्रवृत्त हो जायेगा। किन्तु जब कोई इस मर्यादा का अतिक्रमण करता है तजो न्याय–व्यवस्थाा को दण्ड–विधान भी करना पड़ता है। यदि इस मर्यादा का उल्लंघन राष्ट्रीय स्तर पर हो तो सैन्य–बल के प्रयोग द्वारा भी आत्मरक्षा करनी होती है। ये समाजधर्म के साथ अनिवार्य रूप से जुड़े बल–प्रयोग के प्रसंग हैं।

हृदय-परिवर्तन :

बल-प्रयोग तात्कालिक उपाय हो सकता है। मौलिक तथा स्थायी परिवर्तन तो हृदय परिवर्तन से ही सम्भव है। आत्मधर्मी यथास्थितिवाद का समर्थक नहीं है। उसकी अहिंसा उसे शोषण, अन्याय अथवा विषमता के प्रति उदासीन नहीं बनाती। वह अत्यन्त संवेदनशील होता है। किन्तु वह अन्याय का प्रतिकार बल-प्रयोग से नहीं करता। उसकी दृष्टि में अन्याय का प्रतिकार करना आवश्यक है। वह सहिष्णुता के साथ ही किया जा सकता है। अन्याय के प्रतिकार का निर्दोष उपाय है- सहिष्णुता- अहिंसा के अछूते पहलू पृ. ९६

अहिंसक प्रतिकार :

हमारे अपने समय में महात्मा गांधी ने अन्याय के प्रतिकार के लिए अहिंसक प्रणाली का सफल प्रयोग किया। एक अंग्रेज ने महात्मा गांधी की समाधि पर यह उद्‌गार प्रकट किये कि महात्मा गांधी का भारतीयों पर तो यह उपकार है ही कि उन्होंने उन्हें पराधीनता से मुक्त कर दिया किन्तु हम अंग्रेजों पर उससे भी बड़ा उनका यह उपकार है कि उन्होंने हमें यह बताया कि किसी को पराधीन बनाना बुरा है। यह हृदय परिवर्तन द्वारा अन्याय के शमन का उदाहरण है। हृदय परिवर्तन द्वारा केवल उसी का उपकार नहीं होता जिस पर अन्याय होता है।वह तो अन्याय से मुक्त हाता ही है- उपकार उसका भी होता है जो अन्याय कर रहा था क्योंकि वह अन्याय करना छोड़ देता है। आततायी ने अन्याय करना छोड़ दिया, मूल्यवान् यह है। निर्बल आततायी के अन्याय से बच गया- यह आनुषङ्गिक फल है। मुख्य फल नहीं।

समाजधर्म में हिंसा की अपरिहार्यता और आत्मधर्म में हिंसा की सावद्यता-इन दो परिस्थितियों के बीच में अहिंसा के स्थिति को स्पष्ट करना है।

अहिंसा का व्यावहारिक स्वरूप :

प्रथम कदम है कि जो हिंसा अनावश्यक है उसे छोड़ा जाये ?

व्यक्ति आवश्यक हिंसा को नहीं छोड़ सकता, जीवन की वास्तविक जरूरतों को कम नहीं कर सकता किन्तु अनावश्यक हिंसा से बच सकता है, कृत्रिम जरूरतों का संयम कर सकता है। अस्तित्व और अहिंसा पृ.२९

गृहस्थ अपने स्वार्थ के लिए हिंसा करता है पर उसे कम से कम अनर्थ पाप से अवश्य बचना चाहिये।-जीवअजीव पृ. १५४

परिग्रह अधिक हो तो अधिक हिंसा आवश्यक प्रतीत होती है। परिग्रह कम हो जाये तो आवश्यक प्रतीत होने वाली हिंसा भी अनावश्यक होती चली जाती है। क्रम यह

है कि ज्यों-ज्यों आत्मरमण बढ़ता है, परिग्रह की इच्छा न्यून होती जाती है और ज्यों-ज्यों परिग्रह की इच्छा न्यून होती है त्यों-त्यों हिंसा की आवश्यकता कम होती जाती है। दूसरी ओर ज्यों-ज्यों हिंसा की आवश्यकता और परिग्रह की इच्छा कम होती है त्यों -त्यों आत्मरमण की सघनता बढ़ती है। यह हिंसा से अहिंसा की ओर बढ़ने वाली सच्ची अहिंसा-यात्रा है।

अहिंसा-यात्रा :

ऐतिहासिक रूप में अहिंसा की यात्रा प्रारंभ तो हुई यहां से किसी को कष्ट नहीं देना किन्तु उसका समापन हुआ इस बिन्दु कि राग द्वेष नहीं करना-

अहिंसा की परिभाषा का उत्तरोत्तर बहुत विकास हुआ है। किसी जीव को मत मारो- यह अहिंसा है। यहां से अहिंसा का सिद्धान्त चला और विकसित होते-होते अनेक गहराईयों को पार कर वहां पहुंच गया कि राग द्वेष को उत्पन्न न करना अहिंसा है। इस अर्थ में अहिंसा, सामायिक और ध्यान एक हो जाते हैं। वर्तमान क्षण में जीना। जिस क्षण में राग और द्वेष न हो उस क्षण को हम ध्यान कह सकते हैं, समता कह सकते हैं और उस क्षण को अहिंसा कह सकते हैं। (तेरापंथ शासन अनुशासन पृ. ९०)

अहिंसा के इस रूप को परम धर्म कहा जा सकता है। अहिंसा के इस पारमार्थिक स्वरूप की स्वीकृति पूरे भारतीय चिन्तन में व्याप्त है। अहिंसा को ध्यान का पर्यायवाची माने बिना न उपनिषद् के इस वाक्य को मर्म समझा जा सकता है कि साधना के शिखर पर साधक सुकृत और दुस्कृत दोनों को पार कर जाता है और न आचार्य कुन्दकुन्द के इस वक्तव्य का रहस्य हृदयङ्गम हो सकता है। कि पाप और पुण्य दोनों ही बेड़ियाँ हैं, एक लोहे की बेड़ी है दूसरी सोने की बेड़ी है। पंतञ्जलि ने बड़ी कुशलता से समाधि की स्थिति को अकृष्ण-अशुक्ल बता दिया। यह पापपुण्यातीत अहिंसा का प्रथम रूप है।

किसी को अधर्म से धर्म के मार्ग पर चलने की प्रेरणा देना अहिंसा का दूसरा रूप है। जो धर्म के मार्ग पर चल रहा उसके लिये सहयोगी बनना अहिंसा का तीसरा रूप है। जो अन्याय कर रहा है। उसका असहयोग करना अहिंसा का चौथा रूप है। अहिंसा के ये चारों रूप आत्मधर्म के अंग हैं।

समाजधर्म के घटक :

इसी प्रकार किसी भी असहाय प्राणी की पात्र-अपात्र का विचार करे बिना मूलभूत भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना प्रथम सामाजिक धर्म है। अपराधी को

लौकिक दण्ड विधान के अनुसार दण्डित करना अथवा दण्डित करवाने में सहयोग देना द्वितीय सामाजिक धर्म है। आक्रमण से देश की रक्षा हेतु शस्त्र प्रयोग तृतीय सामाजिक धर्म है। राष्ट्र को वैभवशील बनाने का प्रयत्न करना चतुर्थ सामाजिक धर्म है। अहिंसा का संदेश यह है कि इन सामाजिक धर्मों के पालन में व्यक्ति न्यूनतम हिंसा बरते किन्तु इस प्रक्रिया में अपरिहार्य रूप से किसी को जो कष्ट दिया जाता है उसे अहिंसा की गरिमामयी संज्ञा से महिमामण्डित नहीं किया जा सकता।

आत्मधर्म का समाज को योगदान :

आत्मधर्म जब शोषण का विरोध करता है तो वह किसी प्राणी को दयनीय स्थिति में लाने से रोककर भिक्षा की आवश्यकता को ही समाप्त करने में समाजधर्म का सहायक होता है। वह पाप का निषेध करके अपराधों के मूल पर ही चोट करता है। वह आक्रमण का विरोध करके आत्म-सुरक्षा के लिये किये जाने वाले युद्ध की आवश्यकता को ही मिटाना चाहता है। वह प्रकृति के अत्यधिक दोहन पर रोक ल गा कर राष्ट्र के सुस्थिर विकास का मार्ग प्रशस्त करता है। आत्मधर्म के समाज के लिए इस अमूल्य अवदान की उपेक्षा नहीं की जा सकती और न यह कहा जा सकता है कि आत्मधर्म समाजविरोधी है।

आचार्य भिक्षु पर यह आरोप लगाया गया कि उनका अहिंसा का प्रतिपादन समाज-विरोधी है किन्तु उन्होंने समाजधर्म का विरोध करने का निषेध किया है।

-जो दान दे ताने साधनषेदेते लेवाल रे पडे अंतरायोरे -भिक्खुदृष्टान्त, ३-१८

विवेक : उन्होंने जो कहा वह यह कि समाजधर्म को आत्मधर्म न माना जाये-

संसार ने मोखतणाउपगार, समदिष्टी हुवे ते न्यारान्यारा जाणे-अनुकम्पा ११.५२

जो आत्मधर्मी के लिए हिंसा है, वह समाजधर्मी के लिए अहिंसा नहीं बन जाती-

साधक श्रावक दोनों तणी, एक अणुकम्पा जाण-अनुकम्पा २.३

फि र भी सामाजिक धर्म आत्मधर्म में सहायक नहीं बनता- ऐसा नहीं कहा जा सकता।

अविकसित जातियों का भौतिक साधनों से संपन्न करने का जो प्रयत्न किया जाता है, उसका स्वरूप भले ही आध्यात्मिक न हो, परन्तु परिस्थिति से उत्पन्न हिंसा को रोकने की दिशा में वह महत्त्वपूर्ण कदम है।

-जैन तत्त्व चिन्तन पृ. ६७

कभी-कभी लग सकता है कि जब सामाजिक प्राणी को आत्मधर्म के साथ-साथ समाजधर्म का भी पालन करना ही है तो इन दोनों की पृथक्ता पर बल देना क्या बाल की खाल निकालना नहीं है ? वस्तु स्थिति यह है कि इन दोनों धर्मों की

पृथक्ता की उपेक्षा करना दोनों ही प्रकार के धर्मों के हित में नहीं है। समाजधर्म और आत्मधर्म के भेद को समझना आवश्यक है।

समाजधर्म सामायिक , आत्मधर्म शाश्वत

आत्मधर्म व्यक्तिगत है उसमें से समाजधर्म के कुछ सूत्र प्राप्त हो सकते हैं किन्तु पूर्ण समाजधर्म का निर्माण आत्मधर्म से निरपेक्ष रूप में ही हो सकता है। भारत में पिछली कई शताब्दियों में आत्मधर्म ही मुख्य प्रतिपादन का विषय बना रहा, समाजधर्म पर स्वतंत्र चिन्तन नहीं हुआ। फलत: हमारी समाज व्यवस्था निर्बल हो गयी। कुछ आत्मधर्म के विचारकों ने आत्मधर्म का निरुपण कुछ इस प्रकार कर दिया कि उसमें समाजधर्म का भी समावेश हो जाये। इससे अनेक विकृतियां आ गयी।

आत्मधर्म शाश्वत है एस धम्मे सुद्धे, णिइए, पासए (आयारो ४.१.२)समाजधर्म सामयिक होता है। यदि समाजधर्म को आत्मधर्म के साथ जोड़ दिया जायेगा तो समाजधर्म रूढ़ हो जायेगा क्योंकि उसमें परिवर्तन कररने का अवकाश ही नहीं रहेगा। एक समय सारे संसार में राजतंत्र था। धर्मपुरुषों ने राजा को देवता घोषित करके एक राजनैतिक व्यवस्था को धार्मिक व्यवस्था बना डाला। लोकतंत्र आया तो राजा पदच्युत हो गये। यदि राजा देवता है तो राजा को पदच्युत करके राजतंत्र के स्थान पर लोकतंत्र लाकर हमने गलत काम किया। लौकिक व्यवस्था को दैवी व्यवस्था मानने पर तो यही परिणाम निकलेगा किन्तु यदि राजतंत्र को एक लौकिक व्यवस्था ही माना जाये तो राजतंत्र की अपेक्षा लोकतंत्र को लाकर हमने व्यवस्था में सुधार किया- ऐसा माना जायेगा। युद्ध में पुरुषों के मारे ज ाने से पुरुषों की संख्या कम तथा स्त्रियों की संख्या अधिक होने पर बहुपत्नी प्रथा कभी स्त्रियों के लिये सहारा बनती रही होगी किन्तु आज स्त्री-पुरुषों के संख्या लगभग समान होने पर भी बहुपत्नी प्रथा को धार्मिक अधिकार मानकर अपनाये रहना स्त्री के आत्मगौरव को पद दलित करना है।

अभी सुप्रीम कोर्ट के समान नागरिक संहिता की आवश्यकता बतायी। नागरिक संहिता के नियम लौकिक हैं, वे देश काल के अनुरूप बदले जा सकते हैं किन्तु कुछ लोग पति-पत्नि के लौकिक सम्बन्ध को अलौकिक रूप देकर उस सम्बन्ध के नियमों को उन धर्मग्रन्थों के आधार पर निर्धारित करना चाहते हैं जो धर्मग्रन्थ आज से कई शताब्दियों पूर्व बने थे। फलत: ऐसे लोग रूढ़िवाद के समर्थक बन जाते हैं और बदलते समय के ल ाभ से वञ्चित रह जाते हैं।

मनु की व्यवस्था लौकिक :

आज मनुवाद को एक अपशब्द के रूप में प्रयुक्त किया जा रहा है। भारतीय समाज में मनु एक प्रतिष्ठित पुरुष के रूप में आदर के पात्र रहे हैं। उनकी मनुस्मृति हमें उपलब्ध है। यद्यपि मनु-स्मृति का निर्माण मनु ने नहीं किया तथापि उसके विधान मनुसम्मत माने जाते हैं। मनु कट्टर से कट्टर भक्त भी आज मनु-स्मृति के समस्त विधानों का पालन करने का समर्थन नहीं कर सकता। यदि हम यह मान लें कि मनु की व्यवस्था लौकिक है तो कोई कठिनायी नहीं आयेगी क्योंकि देश-काल के अनुसार उसमें परिवर्तन किये जा सकेंगे किन्तु यदि हम मनु के विधान को दैवी तथाा सनातन मान लें ता फिर यह संकट उपस्थित हो जायेगा कि मनु के वे विधान भी हमें मानने होंगे जो युगानुरूप है नहीं हैं । निष्कर्ष यह हुआ कि आत्मधर्म ही शाश्वत हो सकता है, समाजधर्म नहीं। स्वयं मनु ने कृत, त्रेता, द्वापर और कलि के धर्म भिन्न-भिन्न माने हं।

शाश्वत मूल्यों का महत्त्व :

आज परिवर्तन की बहुत चर्चा है। कहा जाता है कि समय बहुत तेजी से बदल रहा है । मूल्य भी बदल रहे हैं। इस परिवर्तन के चक्रवात में आत्मधर्म के वे घटक भी उड़ रहे हैं जो शाश्वत हैं। यह आत्मधर्म को भी समाजधम ही मान लेने का दुष्परिणाम है। भौतिकवादी आत्मा जैसे शाश्वत तत्त्व को मानता ही नहीं, अत: उसके लिये आत्मधर्म जैसा कोई शाश्वत तत्त्व भी नहीं है। वह आत्मधर्म को भी देश काल परिस्थितिजन्य ही मानता है। इसलिए उसके लिये कोई मूल्य शाश्वत नहीं हैं। आज ऐसे लोगों की कमी नहींजो हिंसा को ही धर्म मान रहे हैं। आतंकवाद उन्हीं लोगों की देन है। आचार्य भिक्षु को यह कहा जा रहा था कि इस युग में (पञ्चम काल में) शुद्ध धर्म का पालन नहीं हो सकता। किन्तु उन्होंने शाश्वत तत्त्वों की परिवर्तनशीलता स्वीकार नहीं की।

पन्थनिरपेक्षराज्य :

यूरोप में एक लहर आयी कि राज्य को पन्थनिरपेक्ष होना चाहिए। एक समय था कि सारा यूरोप धर्मगुरुपोप की आज्ञा के अनुसार सञ्चालित होता था। कुछ शासकों ने अनुभव किया कि पोप के सभी आदेश युक्ति युक्त नहीं हैं। उन्होंने विद्रोह किया और पोप के नियंत्रण से मुक्त हो गये। यह पन्थनिरपेक्षता का प्रारम्भबिन्दु था। धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त के आने के पहले ही आचार्य भिक्षु लौकिक व्यवस्था को धर्मव्यवस्था से भिन्न मानने की घोषणाा कर चुके थे।

भारत की संस्कृति बहुलवादी है। यहाँ प्राय: सभी धर्मों के अनुयायी रहते हैं। यदि राज्य-व्यवस्था किसी एक धर्मानुसार सञ्चालित होगी तो शेष धर्म के अनुयायिओं के लिये कठिनायी हो जायेगी। अत: हमने सेक्यूलर राज्य की स्थापना की। यह सब उसी चिन्तन में से निकलता है जो चिन्तन लौकिक-व्यवस्था को लोकोत्तर व्यवस्था से मिलाने का विरोध करता है।

उपसंहार :

आचार्य भिक्षु ने अहिंसा की सीमा निर्धारित की। सीमा निर्धारित करने का अर्थ है- अव्याप्ति, अतिव्याप्ति ओर असम्भव दोषों से रहित परिभाषा देना। दर्शन का यही तो मुख्य प्रयोजन है। जब हम सीमा बांधते हैं तो अवधारणा सीमित तो हो जाती है किन्तु

भले तुम्हारे पथ की काया
सीमित हो पर साफ सरल है
भले तुम्हारे तरु की छाया
सीमित हो पर घनशीतल है

-गुरुता को नमन पृ. ६०

एक वाक्य में कहना हो तो आचार्य भिक्षु ने आत्मधर्म और समाजधर्म की वर्ण-संकरण को दूर किया । इससे दोनों धर्मों का शुद्ध रूप प्रकट हो गया। आचार्य भिक्षु का यह अवदान सार्वदेशिक और सार्वकालिक ह।

आचार्य भिक्षु अपने समय से बहुत आगे की बात कर रहे थे। उनके समकालिक उन्हें नहीं समझ पाये। आज उन्हें समझने की आवश्यकता है क्योंकि

तुम सब कुछ थे
किन्तु अवसरज्ञ नहीं थे
दो सौ वर्ष बाद करने के काम
तुमने पहले ही कर डाले

गुरुता को नमन पृ. ३९

आचार्य महाप्रज्ञ का चतुर्विध युग-प्रधानत्व *

प्रोफेसर दयानन्द भार्गव

आचार्य महाप्रज्ञ को युगप्रधान के रूप में पहचाना जा रहा है। विचारणीय बिन्दु है कि क्या उनकी यह पहचान ठीक है। उचित होगा कि हम सर्वप्रथम युग शब्द पर विचार करें और तदनन्तर 'युगप्रधान' शब्द पर और फिर यह देखें कि क्या आचार्य महाप्रज्ञ की पहचान युग के रूप में की जा सकती है।

युग के चार प्रकार

१. **व्यक्तिकृत युग**- एक युग का विभाजन व्यक्ति पर आधृत है। शास्त्रों में कहा गया हैं कि जो सोता है वह कलियुग है, जो अंगड़ाई ले ले वह द्वापर युग है, जो खड़ा हो जाता है वह त्रेतायुग और जो गति करने लगे वह सतयुग है-

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते द्वापरः।

इस व्यक्ति -कृत युग का काल से कोई सम्बन्ध नहीं है। जिसे हम सतयुग कहते हैं उसमें भी कुम्भकर्ण आलस्य प्रसाद के कारण कलियुग में ही था तथा जिसे हम कलियुग कहते हैं उस युग में भी आचार्य तुलसी अथवा महात्मा गांधी अपनी जागरूकता के कारण सतयुग में ही थे। अभिप्राय यह है कि व्यक्ति अपने पुरुषार्थ अथवा प्रमाद के कारण अपने युग का स्वयं निर्माण कर लेता है। यह व्यक्तिकृत युगव्यवस्था है।

२. **प्रकृतिकृत युग**- जिनसे हम सामान्यतः परिचित हं वे सतयुग आदि युग कालबद्ध हैं। उदाहरणतः अभी कलियुग को प्रारम्भ हुए 5101 वर्ष पूरे हुए हैं। इस युग व्यवस्था को वर्षों के गणना के आधार पर चार भागों में बांटा गया है। जैन परम्परा काल को छह भागों में बांटती है। उसके अनुसार अभी काल का पांचवां भाग चल रहा है।

युग की यह प्रकृतिकृत व्यवस्था व्यक्ति के पुरुषार्थ पर निर्भर नही करती। इस व्यवस्था के मूल में यह धारणा है कि समय के साथ प्रकृति के तत्त्व निर्बल तथा दूषित होते जाते हैं। प्रारम्भ में अन्न, जल तथा वायु आदि में जो शक्ति रहती है वह शनैः शनैः क्षीण होती जाती है। प्रकृति के निर्बल होने के साथ -साथ मनुष्य भी निर्बल होता जाता है मनुष्य जैसे-जैसे निर्बल होता जाता है, धर्म का पालन करने में भी दिनों दिन वैसे-वैसे कम समर्थ हो जाता है।

---

* इस लेख को तैयार करने में समणी मङ्गलप्रज्ञा, ऋजुप्रज्ञा, चैतन्यप्रज्ञा, शारदाप्रज्ञा तथा ऋतुप्रज्ञा अपने सर्वविध सहयोग हेतु लेखक के आभार की पात्र हैं।

३. **राज्यसत्ताकृत युग**– कहा जाता है कि राजा काल का निर्माण करता है। यदि अशोक सम्राट जैसा शान्तिप्रिय राजा हो तो सर्वत्र शान्ति और सुख का राज्य हो जाता है, यदि चंगेज खाँ जैसा आततायी राजा हो तो सर्वत्र अशान्ति फैल जाती है। इस प्रकार युग के निर्माण में राज्यसत्ता का योगदान रहता है–

कालो वा कारणं राज्ञः राजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयो माभूत् राजा कालस्यकारणम्।।

यह युग व्यवस्था राज्यसत्ता द्वारा की गयी व्यवस्था पर निर्भर करती है। आज जिस समय में पाकिस्तान एक मजहबी राज्य है और इस कारण वहां के गैर मुस्लिम संकट ग्रस्त हैं, उसी समय में हिन्दुस्तान एक सम्प्रदाय–निरपेक्ष राज्य और यहां सभी सम्प्रदाय के लोग निर्भय हैं। यदि राज्यसत्ता इस स्थिति को बदल दे तो इन देशों की जनता की स्थिति भी बदल जायेगी। यह युग परिवर्तन व्यक्ति अथवा प्रकृति के कारण नहीं, अपितु राज्यसत्ता के कारण होता है।

४. **इतिहासकृत युग**– इतिहासकार प्रायः प्राचीनयुग, मध्ययुग तथा आधुनिक युग की चर्चा किया करते हैं। यह युग विभाजन दो दृष्टियों से किया जाता है।

प्रथम राजनैतिक दृष्टि से हम प्राचीनयुग को हिन्दु युग तथा मध्ययुग को मुस्लिम युग कहते हैं। भारत की स्वतन्त्रता के बाद आधुनिक युग दो भागों में बंट गया है। स्वतन्त्रता के पूर्व का आधुनिक युग ब्रिटिश युग कहलाता है। स्वतन्त्रता के पूर्व का आधुनिक युग ब्रिटिश युग कहलाता है। स्वतन्त्रता के बाद के युग का अभी राजनैतिक दृष्टि से कोई नामकरण नहीं हुआ है। द्वितीय प्राचीन युग धर्मप्रधान है, मध्ययुग दर्शन प्रधान और आधुनिक युग विज्ञानप्रधान।

युगप्रधान का अर्थ

युग शब्द पर विचार करने के बाद 'युगप्रधान' शब्द पर विचार किया जा सकता है। व्यक्तिकृत युग की दृष्टि से प्रत्यक युग में प्रधान पुरुष होते रहे हैं। राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, गांधी आदि प्रत्येक युग में अपने चरित्र के उत्कर्ष के कारण प्रधान पुरुष के रूप में प्रतिष्ठित होते रहे हैं। प्रकृतिकृत युग का पुरुष से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः उसमें कोई पुरुष प्रधान नहीं होता। सत्ताकृतयुग की दृष्टि से सम्राट अशोक, समुद्रगुप्त, अकबर, महाराणा प्रताप, जवाहरलाल नेहरू आदि का नाम युगप्रधान के रूप में लिया जा सकता है जिन्होंने सत्ता में रहकर युग को एक नयी दिशा दी । इतिहासकृत युग की दृष्टि से प्राचीन काल में याज्ञवल्क्य, महावीर तथा बुद्ध मध्यकाल में शंकराचार्य, हेमचन्द्राचार्य आदि आचार्य तथा आधुनिक काल में डारविन आईन्स्टीन आदि वैज्ञानिक युग–प्रधान कहे जा सकते हैं।

आचार्य महाप्रज्ञ का युग-प्रधानत्व

व्यक्तिकृत युग की दृष्टि से अप्रमत्तता के कारण आचार्य महाप्रज्ञ को शलाकापुरुष माना जा सकता है। इस पक्ष को सिद्ध करने के लिये हमें उनके व्यक्तित्व का विश्लेषण करना होगा। किन्तु प्रस्तुत लेख में हम यह नहीं करने जा रहे हैं। प्रकृतिकृत युग पर किसी का कोई अधिकार नहीं होता। राज्य सत्ता आचार्य महाप्रज्ञ के पास है नहीं, अतः राज्यसत्ता कृत युग में वे कोई योगदान नहीं दे सकते।

आचार्य महाप्रज्ञ का युग प्रधानत्व सांस्कृतिक दृष्टि से इतिहास कृतयुग व्यवस्था के अन्तर्गत ही देखना होगा कि आधुनिक युग को वैचारिक दृष्टि से उन्होंने क्या दिया।

आचार्य महाप्रज्ञ एक धर्मपुरुष हैं और आधुनिक युग विज्ञान-प्रधान है। क्या ऐसी परिस्थिति में वे सचमुच युगप्रधान हो सकते हैं? क्या इस वैज्ञानिक युग को एक धर्म पुरुष भी नया मोड़ दे सकता है? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिये हमें आधुनिक युग को थोड़ा अधिक मौलिक रूप में समझना होगा।

आधुनिक युग के व्यावर्तक धर्म

आधुनिक युग वैाानिक युग है। इसकी विशेषताओं को हम मुख्यतः चार भागों में बांट सकते हैं-

१. भौतिक विज्ञान की मुख्यता
२. सामाजिक दृष्टि की मुख्यता
३. सार्वभौम दृष्टि की मुख्यता
४. तार्किकता की मुख्यता

हमें देखना होगा कि क्या आचार्य महाप्रज्ञ आधुनिक युग की इन विशेषताओं के प्रति जागरूक हैं। हमें यह भी देखना होगा कि एक प्राचीन धार्मिक परम्परा क अनुयायी होने के बावजूद क्या वे अपने आपको आधुनिक युग की इन विशेषताओं से जोड़कर युग को कुछ ऐसा दे पाये हैं कि उन्हें युगप्रधान कहा जा सके।

भौतिक विज्ञान की प्रमुखताः आचार्य महाप्रज्ञ की दृष्टि

भौतिक विज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण पर टिका है, धर्म आगम-प्रमाण पर टिका है। भौतिक विज्ञान साधनों को महत्त्व देता है, धर्म का बल साधना पर है। अस्तित्व के तीन स्तर हैं- १. प्रत्यक्ष, २. परोक्ष, ३. अतिपरोक्ष। शरीर प्रत्यक्ष है, मन परोक्ष है तथा आत्मा अतिपरोक्ष है। प्रत्यक्ष भौतिको जैसे विज्ञान का विषय है। परोक्ष पर

चर्चा भी मनोविज्ञान जैसे विज्ञान करते है। अतिपरोक्ष आत्मा विचार का विषय नहीं है।

आचार्य महाप्रज्ञ ने एक क्रान्तिकारी कदम उठाया। उन्होंने अतिपरोक्ष को भी विज्ञान का विषय बनाने की दिशा में पहल की। अति परोक्ष को अपना विषय बनाने वाले इस विज्ञान का नाम है- जीवन विज्ञान। जहां सभी आधुनिक विज्ञान आत्मा की अवधारणा के बिना ही अपना काम चलाते हैं वहां जीवन विज्ञान यह मान कर चलता है कि आत्मा की पहचान के बिना हमारा सारा ज्ञान अधूरा है। विज्ञान की दृष्टि को आचार्य महाप्रज्ञ ने नकारा नहीं किन्तु उसे पूर्ण भी नहीं माना। विज्ञान की दृष्टि का परिपूरक है- अध्यात्म। इसलिए आचार्यश्री ने वैज्ञानिक आध्यात्मिक व्यक्तित्व के निर्माण का लक्ष्य हमारे सम्मुख रखा। आचार्य महाप्रज्ञ के सामने यह प्रश्न था कि आधुनिक विज्ञान भौतिक विज्ञान का पर्यायवाची है तो क्या अध्यात्म भौतिक विज्ञान की पकड़ में आ सकता है? इस प्रश्न का उत्तर विभज्यवादात्मक है- अध्यात्म भौतिक विज्ञान की पकड़ में आता भी है और नहीं भी आता। इस विभज्यवादी उत्तर की पृष्ठभ्मि में जैन दर्शन की एक विशेष दृष्टि है। इसे समझा ना होगा।

जैन दर्शन वस्तुवादी दर्शन है। वह वेदान्त के समान भौतिक जगत् की सत्ता को केवल व्यवहारिक नहीं मानता। उसकी दृष्टि में भौतिक जगत् की सत्ता भी उतनी ही पारमार्थिक है जितनी पारमार्थिक आत्मा की सत्ता है। ऐसी स्थिति में भौतिक जगत् का विश्लेषण करने वाला विज्ञान भी सत्य का उतना ही उपासक है जितना आत्मा की खोज करने वाला अध्यात्म। केवल आत्मा की उपासना और भौतिकता की उपेक्षा- सत्य की अधूरी समझ है। पूर्ण सत्य भौतिक (अजीव) और आत्मा (जीव) दोनों के समझ से उत्पन्न होता है। विज्ञान जीव की उपेक्षा करके यदि अधूरा है तो अध्यात्म भी अजीव की उपेक्षा नहीं कर सकता। जीव और अजीव पृथक् पृथक् तत्त्व हैं किन्तु वे हमें जिस स्थिति में उपलब्ध होते हैं वह प्राय: दोनों का मिश्रण है। हम जो कुछ भी देख रहे हैं वह या तो सजीव है या पहले कभी जीव का शरीर रह चुका है। दूसरी ओर आत्मा भी बद्ध अवस्था में कथञ्चित् मूर्त्त बनकर भौतिक नहीं तो अर्ध भौतिक अवश्य बनी हुई है। अत: पूर्ण सत्य तक पहुंचने के लिये जीव अजीव दोनों को समझना होगा । अजीव को समझने में विज्ञान हमारी सहायता करता है - इसलिये वह तिरस्करणीय नहीं, अपितु अभिनन्दनीय है। वह आत्मा को अपना विषय नही बनाता - यह उसकी सीमा अवश्य है। इस सीमा के कारण विज्ञान को पूर्ण सत्य उद्घाटन करने वाला नहीं माना जा सकता।

प्रश्न उठता है कि क्या भौतिक विज्ञान में इस युग में आत्मा को स्थापित किया जा सकता है। इसके लिये हमें समझना होगा, कि हमारे अस्तित्व के अनेक स्तर हैं- स्थूल शरीर प्रत्यक्षगोचर है, वह भौतिक विज्ञान का विषय है। तैजस शरीर अथवा आभामण्डल आज तक विज्ञान का विषय नहीं था, किन्तु अब वह भी विज्ञान का विषय बन गया है। इस स्थिति का लाभ उठाकर आचार्य महाप्रज्ञ ने कायोत्सर्ग और शरीर-प्रेक्षा की प्राचीन पद्धति में आधुनिक विज्ञान की नाड़ी संस्थान, रसायन, ग्रन्थि स्राव तथा कोशिकाओं सम्बन्धी अनेक सूचनाओं का समावेश करके पुरानी साधना को वैज्ञानिक रूप प्रदान कर दिया। इतनी ही नहीं उन्होंने आभामण्डल पर एक पूरा ग्रन्थ लिखकर पुरातन का नवीन के साथ समन्वय स्थापित किया। हमारे अस्तित्व का एक तीसरा स्तर कार्मण शरीर है। यह भौतिक विज्ञान की पकड़ के बाहर है। इसको जानने के लिये हमें ध्यान का अवलम्बन लेना होगा।

ध्यान की प्रक्रिया का एक क्रम है। ध्यान को प्राय: मन से जोड़ा जाता है। मन को ही बन्धमोक्ष का हेतु भी माना जाता है। किन्तु जैन परम्परा मन तथा शरीर को समान महत्त्व देती है। शरीर स्थूल है, मन सूक्ष्म। सूक्ष्म को भी स्थूल द्वारा ही पकड़ा जाता है। अत: साधना का प्रारम्भ शरीर से होता है। अष्टांग योग का प्रारम्भ भी आसनों से होता है। आसनसिद्धि ध्यान की पहली शर्त है। मन की चञ्चलता को रोकना हो तो पहले शरीर की चञ्चलता को रोकना होगा। शरीर पात्र है, मन उसमें भरा हुआ जल है। पात्र हिलता रहे और उसमें रखा पानी स्थिर हो जाये- यह नहीं हो सकता। पात्र स्थिर हो जाये तो पानी भी स्वयं स्थिर हो जायेगा।

ध्यान का लक्ष्य निर्विकल्पता है। निर्विकल्पता का अर्थ है- मन के पार जाना। किन्तु मन का पार जाने के लिये भी मन को समझना होगा। आधुनिक मनोविज्ञान ने हमें मन की समझ दी । किन्तु मनोविज्ञान का विषय मनोजगत् ही है, विचारातीतता मनोविज्ञान का विषय नहीं है। भारतीय मनोविज्ञान का उदेश्य वृत्तियों का विश्लेषण करना मात्र नहीं है अपितु वृत्तियों का निरोध करना है। जिसे योगसूत्र चित्तवृत्तिनिरोध कहता है, जैन परम्परा उसे मनोगुप्ति कहती है । आचार्य महापज्ञ का मन तथा चित्त का विश्लेषण आधुनिक मनोविज्ञान को एक दिशा प्रदान कर सकता है। आधुनिक मनोविज्ञान जहाँ व्यवहार के विश्लेषण पर ही अटक गया है वहाँ आचार्य महाप्रज्ञ कषाय विजय का उद्घोष लेकर मनोजगत् में प्रवेश करते हैं।

शरीर विज्ञान सम्बन्धी कुछ अभिनव उपपत्तियाँ

आचार्य महाप्रज्ञ ने अध्यात्म और विज्ञान को जोड़ने के क्रम में अनेकक नवीन उपपत्तियां प्रस्तुत की हैं। श्रद्धालु के लिये ये उपपत्तियां सिद्धान्त हैं, किन्तु

जिज्ञासु के लिये भी ये उपपत्तियां महत्त्वपूर्ण प्राक्कल्पनायें (Hypothesis) उपस्थित करती हैं जिन पर अग्रेतर अनुसन्धान अपेक्षित है। ऐसी कुछ उपपत्तियां आगे दी जा रही है। सर्वप्रथम शरीर सम्बन्धी उपपत्तियों को लें।

*सामान्यत: हम शरीर को स्थूल मान लेते हैं। किन्तु विचार और भाषा पौद्गलिक है। शरीर पर संयम करने से मन और वचन पर स्वयं ही संयम हो जाता है।

*दर्शन में द्रष्टृभाव की बहुत प्रशंसा है। आत्मा का दर्शन विकास का अन्तिम सोपान है। प्रथम सोपान शरीर का दर्शन है। शरीर को हम सब देखते हैं किन्तु इस देखने के साथ जब कर्तृभाव और भोक्तृभाव होता है तो आर्तध्यान और रौद्रध्यान जन्म लेता है। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान भी एकाग्रता उत्पन्न करता है, किन्तु यह एकाग्रता अशुभ संस्कार को दृढ़ बनाती है। इसलिए इन ध्यानों को भी अशुभ कह दिया जाता है। इसके विपरीत जब हमारा शरीर के प्रति साक्षिभाव होता है तो शुभ ध्यान का जन्म होता है। शुभ और अशुभ दोनों ही स्थितियों में शरीर ध्येय बन सकता है। यदि ध्यान में भोक्तृभाव है तो ध्यान अशुभ हो जाता है, साक्षिभाव है तो शुभ हो जाता है।

* स्थूल शरीर तैजस् शरीर से नियन्त्रित है और तैजस् शरीर कार्मण शरीर से नियन्त्रित होता है। कर्म का विपाक भी ग्रन्थियों के माध्यम से होता है। अर्थात् ग्रन्थि परोक्ष को प्रत्यक्ष से जोड़ने का माध्यम है।

* शक्ति केन्द्र के साथ कामकेन्द्र जुड़ा है एक के सक्रिय होने पर दूसरा भी सक्रिय हो जाता है। ऐसे में केवल ध्यान ही समस्या का समाधान नहीं कर पाता, अनुप्रेक्षा और स्वाध्याय की सहायता लेनी पड़ती है।

*ज्ञान अज्ञान के विकास में बाधक है। अज्ञान का कारण हमारी मूर्च्छा है। ध्यान इस मूर्च्छा को तोड़ता है। हमारे नाड़ी संस्थान का ८० प्रतिशत भाग उपयोग में नहीं आता । ध्यान जागरण के द्वारा उस भाग को सक्रिय कर देता है। ऐसा होने पर शरीर के उन रहस्यों को हम जान लेते हैं जो मूर्च्छा की अवस्था में अज्ञात बने रहते हैं।

* प्रवृत्ति और निवृत्ति भी हमारे शरीर से जूड़ी है। अनुकम्पी प्राण प्रवाह प्रवृत्ति उत्पन्न करता है, परानुकम्पी प्राण प्रवाह निवृत्ति उत्पन्न करता है। ये ही हठयोग की इड़ा और पिंगला हैं। ये ही सूर्यस्वर और चन्द्रस्वर हैं।

* हमारी शारीरिक स्थति हमारे भावों को भी प्रभावित करती है। पित्त का सम्बन्ध क्रोध से है। लोभ का सम्बन्ध कफ से है। वायु का सम्बन्ध काम वासना से है।

* चिकित्सक प्लास्टर के द्वारा शरीर के किसी भी भाग को स्थिर करके शरीर में होने वाली टूट-फूट को दूर करता है। साधक कायोत्सर्ग के द्वारा शरीर को स्थिर करके शरीर को निरोग बनाता है।

* खेचरी मुद्रा से रस लोलुपता और अन्तर्यात्रा से वासना क्षीण होती है।

* मेलोटोनिन के स्राव का समय मन की चंचलता को कम करने का सबसे उचित समय है। जिस समय पीनियल ग्लैण्ड काम करे वह समय आन्तरिक परिष्कार के लिए सबसे उत्तम समय है। मेलोटोनिन बाहरी क्रियाओं को निष्क्रिय कर आन्तरिक क्रियाओं को उदीप्त करता है।

* रक्त में शर्करा की कमी आत्महत्या के भाव जगाती है। यकृत और तिल्ली की विकृति हिंसक बनाती है।

* शरीर का हमारे भाव के साथ के साथ ऐसा सम्बन्ध है कि जब हममें हिस्त्र भाव आता है तो मांसपेशियां तन जाती है, श्वास तेज चलने लगता है, एड्रीनल ग्रंथि का अतिरिक्त स्राव होने लगता है। चिड़चिड़ेपन का कारण विटामिन ए की कमी है। भय का कारण विटामिन बी की कमी है।

* चेतना की तीन क्रीडा भूमि इस प्रकार हैं-

१. पदार्थचेतना की क्रीड़ाभूमि गुदा से नाभि तक का प्रदेश।

२. नैतिक चेतना को क्रीड़ाभूमि नाभि से कण्ठ तक का प्रदेश।

३. आध्यात्मिक चेतना को क्रीड़ाभूमि ठुड्डो से सिर तक का प्रदेश।

* स्वत: संचालित क्रियाओं को नियन्त्रित करने का उपाय श्वास को नियन्त्रित करना है। श्वास को नियन्त्रित करने से स्वत: संचालित क्रियाए नियन्त्रित होती हैं और स्वत: संचालित क्रियाओं के नियन्त्रण से संवेग नियन्त्रित होते हैं। इस प्रकार स्थूल के माध्यम से सूक्ष्म को पकड़ सकते हैं।

* रंगो में श्वेत रंग का सम्बन्ध शक्ति से, लाल का सक्रियता से, पीले का बौद्धिक विकास से औरनीले का अध्यात्म विकास से है।

* मूलाधार और आज्ञाचक्र लालरंग का ध्यान करने से, अनाहत चक्र पीले रंग का ध्यान करने से, विशुद्धिचक्र, मणिपुर तथा सहस्रार चक्र श्वेतरंग का ध्यान करने से जागृत होते हैं।

* ध्यान में देखने की बात कही जाती है। किन्तु जब हम देखते हैं तो हममें परिवर्तन भी होता है। इसलिए देखना ऐसी क्रिया नहीं है जो परिवर्तन न लाये।

मनोविज्ञान के विचारणीय बिन्दु

आचार्य महाप्रज्ञ के मनोविज्ञान के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण विचार हैं। संभवत: पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने उन तथ्यों पर अधिक ध्यान नही दिया है–

सब सुख चाहते हैं। दु:ख कोई नहीं चाहता। यह सामान्य स्थिति है। सामान्य व्यक्ति का जीवन इन्हीं दो भावनाओं से प्रेरणा ग्रहण करके संचालित होता है। किन्तु एक दूसरी स्थिति भी है– सुख दु:ख में समता का भाव रखना चाहिए। न अनुकूलता में पसन्न हो, न प्रतिकूलता में विषण्ण, दोनों स्थितियों में समान रहे। सुख के लिये किया जाने वाला पुरुषार्थ एक पक्ष है, समता के लिए किया जाने वाला पुरुषार्थ दूसरा पक्ष है। पहला पुरुषार्थ पदार्थ परक है, दूसरा आत्म परक । पहले पुरुषार्थ की सफलता पराधीन है, दूसरे पुरुषार्थ की सफलता स्वाधीन है। इष्ट पदार्थ के रहने पर भी हम मानसिक रूप से बीमार हो सकते हैं। किन्तु जो अनुकूलता प्रतिकूलता में अपना संतुलन नहीं खोता, वह मानसिक रूप से रुग्ण नहीं हो सकता।

मानसिक स्वास्थ्य के तीन चिन्ह हैं–

१. प्रत्येक परिस्थिति के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने की क्षमता।

२. दूसरे को न देखकर अपने को ही देखना।

३. प्रदर्शन में विश्वास न रखना।

परिस्थिति के साथ सामञ्जस्य तब रखा जा सकता है जब व्यक्ति में लचीलापन हो। जब शरीर का लचीलापन समाप्त हो जाता है तब वृद्धावस्था आती है। विचारों में लचीलापन न होने का अर्थ है– मानसिक वार्धक्य। तारुण्य सदा वर्तमान में जीता है, वार्धक्य अतीत में रस लेता है। सत्य वर्तमान में है, अतीत में कल्पना रह सकती है सत्य नहीं। मन का अतीत और भविष्य में रहना ही चञ्चलता है। मन का वर्तमान में रहना एकाग्रता है, अतीत अनन्त है। भविष्य भी अनन्त है। इसलिए उनमें विचरण करने वाला मन एकाग्र नहीं हो सकता। वर्तमान का क्षण एक ही है। उस पर टिकने वाला मन चञ्चल नहीं हो सकता। जहां एकाग्रता है, वहां वर्तमान है, जहां वर्तमान है, वहां सत्य है। जब व्यक्ति अतीत की स्मृतियों और भविष्य की कल्पनाओं में खोया रहता है तो सत्य उससे चूक जाता है। सत्य के चूकने का अर्थ है– जीवन का चूक जाना। जो जीवन से चूक गया वही वृद्ध है। जो जीवन को जी रहा है, वही युवा है।

मन संग्रह करता है, संस्कारों का संग्रह । जैसे शरीर संग्रह करता है तो कोष्ठबद्धता बनती है, वैसे मन संग्रह करता है तो मूर्च्छा बन जाती है। जैसे मादक द्रव्य का सेवन करने पर सत्य हमसे छिप जाता है वैसे ही मूर्च्छा सत्य को ढक

लेती है। इन्द्रियों के विषयों के प्रति हमारी आसक्ति जितनी सघन है मूच्र्छा उतनी ही गहरी हो जाती है, मूच्र्छा जितनी गहरी हो जाती है, सत्य के ऊपर का आवरण भी उतना ही घना हो जाता है। मूच्र्छा को तोड़ने के लिए मन को विषयों से रिक्त करना होता है। इस प्रक्रिया में पाप तो काम आता ही नहीं है, पुण्य भी काम नहीं आता। पाप और पुण्य दोनों आवरण हैं। आवरण को हटाने में आश्रव-बन्ध उपयोगी नहीं है, संवर-निर्जरा उपयोगी हैं। यह अध्यात्म की स्थिति है, जहां रिक्तता चाहिए, निर्विषयता चाहिए। संसार की स्थिति दूसरी है। वहां विषय चाहिए, भरापन चाहिए, रिक्तता नहीं। इसलिए वहां पुण्य उपयोगी है। तात्कालिक लाभ की दृष्टि से संसार में पाप भी उपयोगी प्रतीत हो सकता है किन्तु पाप वस्तुतः संसार की दृष्टि से भो उपयोगी नहीं है क्योंकि पाप भले ही पदार्थ जुटा दे, पर चेतना को कुण्ठित कर देता है। पदार्थ को भी भोगेगी तो चेतना ही और यदि चेतना ही कुण्ठित हो गई तो पदार्थ होने पर भी उन्हें भोगेगा कौन? इसलिए पापी के पास पदार्थ हो सकते हैं, पर उसकी भोगने की शक्ति प्रतिदिन क्षीण होती जाती है, इसलिए होने पर भी पदार्थों का सुख वह भोग नहीं पाता। उसके दिन बेचैनी में ही बीतते हैं।

पदार्थ को प्रधान मान लिया जाए और चेतना को गौण, तो पाप को प्रश्रय मिलता है। चेतना प्रधान रहे और पदार्थ गौण हो जाए तो पुण्य का प्रश्रय मिलता है। चेतना इतनी प्रबल हो उठे कि पदार्थ के होने न होने की चिन्ता ही न करे, तो ऐसी चेतना महान् निर्जरा का कारण बनती है। जब साधक न केवल पदार्थ के प्रति उदासीनता बरतता है पत्युत मिले हुए पदार्थ को भी छोड़ देता है, तब वह त्याग कहलाता है। यह त्याग इस बात का सूचक है कि साधक पदार्थ की परतन्त्रता से मुक्त हो रहा है।

वास्तविक परतन्त्रता कर्म की परतन्त्रता है। जैसा कर्म उदय में आया वैसा हमारा भाव हो गया, यह औदयिक भाव कहलाता है। इसमें साधक की स्वतन्त्रता कहीं भी परिलक्षित नहीं होती। साधक का पुरुषार्थ क्षायोपशमिक भाव में प्रकट होता है, जब हम कर्म के आदेश को मानने से इन्कार कर देते हैं, संस्कार के विरूद्ध खड़े हो जाते हैं।

किसी ने हम पर क्रोध किया। उसकी सहज प्रतिक्रिया यह होगी कि हम भी उत्तर क्रोध से दें। यह क्रोध का सहयोग करना हुआ। क्रोध का विरोध यह नहीं है कि हम भी क्रोध करें। सजातीय का विरोध सजातीय से नहीं होता। आग आग से नहों बुझती, पानी से बुझती है। जब हम क्रोध का उत्तर क्षमा से देते हैं तो हम क्रोध का सहयोग करने से इन्कार कर देते हैं। हम अपने पर क्रोध करने वाले के

लिए दसीलिए तो क्रोध करते हैं कि उसका क्रोध करना गलत है, फिर हम स्वयं करके क्या उसी की गलती की नकल नहीं करते हैं ?

हम समझते हैं कि किसी ने हमारी हानि की। इसलिए हम उस पर क्रुद्ध होते हैं। पर ऐसे में इतना तो निश्चित है कि हमने यह मान लिया है कि हम इतने कमजोर हैं और दूसरा इतना बलवान् है कि वह हमारा कुछ बिगाड़ सकता है। यह अपनी पराजय की स्वीकृति है। इसके विपरीत जब हम दूसरे की ओर ध्यान ही नहीं देते तब हमारी शक्ति सूचित होती है। हम अपने में लीन हैं- दूसरा कुछ भी करे यही ध्यान है।

यह आशा करना कि ध्यान से परिस्थिति हमारे अनुकूल हो जाएगी, परमुखापेक्षित है, पराधीनता है। ध्यान से हम पर आशा न रखें कि परिस्थिति हमारे अनुकूल हो जाएगी। ध्यान का लक्ष्य यह होना चाहिए कि हमारी क्षमता इतनी अधिक विकसित हो जाए कि परिस्थिति हमें पभावित न कर सके। ध्यान से क्षमता बढ़ती है और क्षमता से क्षमा घटित होती है।

जब हम ऐसा समझते हैं कि हम अशक्त हैं तो हम परिस्थिति से डरते रहते हैं। हम प्रतिकूलता से जितने डरते हैं, प्रतिकूलता हम पर उतनी हावी होती जाती है। जितना हम अपने पर आस्था रखते हैं परिस्थिति उतनी अप्रभावी हो जाती है।

अपने में आस्था रखने का ही दूसरा नाम धर्म में आस्था रखना है। जिसकी अपने में आस्था नहीं है वह यदि दावा करता है कि उसकी धर्म में आस्था है तो इसका अर्थ होता है कि वह धर्म को भी कोई पदार्थ मान रहा है। जिसकी आस्था पदार्थ में है उसकी आत्मा में रुचि नहीं है वह सदा यह पाएगा कि वह इतना व्यस्त है कि उसके पास धर्म के लिए समय ही नहीं है।

ऊपर ध्यान की चर्चा हुई है। ध्यान का उत्कृष्ट रूप तो निर्विकल्पता ही है, जहां देश, काल नाम, रूप कुछ नहीं रहता, केवल अस्तित्व शेष रह जाता है। लेकिन प्रारम्भ में ही हम इस निर्विकल्पता की स्थिति में नहीं पहुंच सकते। प्रारम्भ में विचार को ही ध्यान का साधन बनाना पड़ता है। स्वाध्याय में विचार है, जप में भी विचार है। जहां शब्द है वहां विचार अवश्य है और जहां विचार है वहां शब्द अवश्य है। किन्तु जैसे कांटे से कांटा निकाला जाता है ऐसे ही स्वाध्याय और जप में हम शब्द से शब्द को पार करके शब्दातीत तक पहुँचते है। इसके लिए स्वाध्याय केवल शास्त्र के अध्ययन तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए उसे स्व का अध्ययन भी बनना चाहिए। यदि कोई शब्द तक ही रह जाएं और उस ज्ञान को न पकड़ पाए जिस ज्ञान को वह शब्द अभिव्यञ्जित करता है तो वह स्वाध्याय आन्तरिक तप की कोटि में न आकर बाह्य तप मात्र ही बना रह जाएगा।

सामाजिक चिन्तनः आचार्य महाप्रज्ञ की दृष्टि

प्राचीन समय से ही चिन्तन की तीन धारायें चलीं- १. भारतीय चिन्तन ने व्यक्ति को केन्द्र में रखा, २. चीन में परिवार को केन्द्र में रखा, ३. यूनान ने समाज को केन्द्र में रखा। इनमें से भी भारत में १. वेद की दृष्टि ब्रह्माण्ड को केन्द्र में रखती है। २. पुराण और स्मृति की दृष्टि सामाजिक जीवन को केन्द्र में रखती है तथा ३. दर्शन शास्त्र व्यक्ति को केन्द्र में रखता है। दर्शनों में भी जैनदर्शन की दृष्टि सर्वाधिक व्यक्ति केन्द्रित है। आधुनिक युग सामाजिकता का है। इसलिए हमने अपने संविधान में समाजवादी व्यवस्था की स्थापना करना अपना लक्ष्य माना है। एक व्यक्तिपरक जैनपरम्परा का आचार्य समाजवाद के युग को क्या दे सकात है- यह चिन्तनीय विषय है। व्यक्तिपरक चिन्तन की मान्यता है कि व्यक्ति सुधर जाये तो समाज सुधर जायेगा। यह एक सापेक्ष सत्य ही है। इस सत्य का दूसरा पक्ष यह भी है यदि व्यवस्था ठीक हो तो व्यक्ति नहीं बिगड़ेगा। दुर्व्यवस्था के कारण जब व्यक्ति अपना उचित अधिकार भी प्राप्त नहीं कर पाता तो वह उस अधिकार का प्राप्त करने के लिए अनुचित साधन प्रयोग में लेता है। यदि व्यवस्था ठीक हो तो उसे ऐसा करने की आवश्यकता नहीं होती। इसलिए जहां व्यष्टिपरक दर्शन व्यक्ति के सुधरने की बात करते हैं वहां समष्टिपरक समाज-शास्त्र व्यवस्था को ठीक करने की बात करते हैं।

आचार्य महाप्रज्ञ दर्शन की परम्परा के व्यक्ति हैं। दार्शनिक परम्परा में भी वे तेरापंथी जैन परम्परा के हैं जो कि आत्यन्तिक रूप से व्यष्टिपरक हैं। किन्तु इसके साथ ही आचार्य महाप्रज्ञ अनेकान्त के उपासक हैं जिसके अनुसार प्रत्येक पक्ष का प्रतिपक्ष होता है। व्यक्ति का आचरण यदि एक पक्ष है तो व्यवस्था उसका प्रतिपक्ष है।

इसलिए आचार्य महाप्रज्ञ ने एक क्रांतिकारी घोष दिया कि जिस गरीबी अमीरी को हम व्यक्ति के कर्म का फल मानते हैं, वह वस्तुतः सामाजिक व्यवस्था का फल है। हमने एक मूल्य निर्धारित किया कि एक बौद्धिक कार्य करने वाले व्यक्ति को दो घण्टे काम कर लेने पर प्रतिमास २०,००० रूपये प्राप्त होने चाहिये जबकि एक श्रमजीवी को आठ घण्टे कठोर श्रम करने पर भी प्रतिमास २००० रूपयें ही प्राप्त हाने चाहिये। इससे बुद्धिजीवी अमीर हो गया, श्रमजीवी गरीब रह गया। साम्यवादी व्यवस्था में हमने श्रम को अधिक महत्त्व दिया और श्रमजीवी का वेतन भी २०,००० ही नियत कर दिया तो बुद्धिजीवी और श्रमजीवी दोनों ही बराबर हो गये। स्पष्ट है कि गरीबी-अमीरी व्यवस्था पर टिकी है, कर्म पर नहीं।

गरीबी-अमीरी को कर्म का फल मानने का आधार हमारी यह भ्रान्त धारणा है कि धन से सुख होता है। धन सुख का निमित्त हो सकता है किन्तु सुख का उपादा नकारण हमारी सम्यक् दृष्टि है। आवश्यक नहीं है कि धनी व्यक्ति सुखी हो और निर्धन दु:खी। दु:ख और सुख का कारण अवश्य ही कर्म है। जिसका पुण्य है वह गरीबी और अमीरी दोनों में सुखी रहेगा और जिसका जिसका पाप है वह दोनों स्थितियों में दु:खी रहेगा। सारांश यह है कि धन का सद्भाव और अभाव निमित्त है और परिस्थितिजन्य हैं। सुख और दु:ख परिस्थिति जन्य नहीं, अपितु कर्मजन्य है।

समाज पारस्परिकता पर टिका है। पारस्परिकता ही व्यवहार है। निश्चय की दृष्टि से मेरे सभी मित्र हैं, व्यवहार की दृष्टि से मेरे मित्र वे हैं, जो मेरा सहयोग करते हैं। व्यवहार की पृष्ठभूमि में निश्चय को रहना चाहिए। जो मेरा सहयोग करे वह मित्र है। यह व्यवहार हुआ। जो मेरा सहयोग न करे वह मेरा शत्रु हुआ- यह निश्चय के विरूद्ध व्यवहार है। अत: यह व्यवहाराभास हो सकता है, व्यवहार नहीं। निश्चय स्वभाव पर स्थित है। स्वभाव की कोई शर्त नहीं होती। महाव्रत निश्चय प्रधान होते हैं। इसलिए उनकी कोई सीमा नहीं होती। अणुव्रत व्यवहार प्रधान हैं। उनकी सीमा है। हमें व्यवहार से निश्चय की ओर बढ़ना है।

व्यवहार समाज के लिए उपयोगी है। वह परिस्थिति के अनुसार बदलता है। व्यवहार में निरपराध के प्रति हम अहिंसक होते हैं, किन्तु आत्म रक्षा के लिए हिंसा का सहारा भी लेते हैं। अन्तर इतना है कि यदि हमारा व्यवहार निश्चय पर टिका होगा तो हम कदाचित् हिंसा तो कर सकते हैं, किन्तु कभी भी क्रूर नहीं हो सकते। सामाजिक जीवन में हिंसा अपरिहार्य ही नहीं अपितु सामाजिक दृष्टि से उपयोगी भी हो सकती है। किन्तु क्रू रता सामाजिक दृष्टि से अनावश्यक ही नही, हानिकारक भी है। श्रावक की हिंसा और अव्रती की हिंसा में यही भेद है। श्रावक का अव्रत भी सम्यक् दृष्टि से ओतप्रोत रहता है। इसलिए समाज अथवा परिवार के लिए भले ही उसे ऐसे कार्य करने पड़ जाएं जो निश्चय की दृष्टि से ठीक न हो किन्तु उसमें यह बोध सदा बना रहता है कि परमार्थ की दृष्टि से यह कार्य उचित नहीं है। फलत: एक सम्यक् दृष्टि के अव्रत सेवन में और मिथ्या दृष्टि के अव्रत सेवन में यह महत्त्वपूर्ण अन्तर रहता है कि सम्यग्दृष्टि अपने क्रियाकलापों को सामाजिक दृष्टि से यथासंभव हानिकारक नही हाने देता है। पूरी श्रावकाचार संहिता का यही रहस्य है।

आचार्य भिक्षु ने यह सूत्र दिया कि उचित साध्य की प्राप्ति के लिए उचित साधना ही बरतने चाहिए, अनुचित नहीं। यह सूत्र जितना अध्यात्म के लिए उपयोगी है, सामाजिक क्षेत्र के लिए भी उतना ही उपयागी है। उदाहरणत: राजनीति

लौकिक क्षेत्र के लिए भी उतना ही उपयोगी है। उदाहरणत: राजनीति लौकिक क्षेत्र की वस्तु है उसका उदेश्य सत्ता प्राप्त करना है। प्रजातंत्र में सत्ता प्राप्त करने का माध्यम चुनाव है। किन्तु चुनाव की भी चुनाव आयोग द्वारा निर्धारित एक आचार संहिता है। उस आचार-संहिता का पालन करते हुए सत्ता प्राप्त करना सामाजिक दृष्टि से गलत नहीं है किन्तु उसका उल्लंघन करके सत्ता प्राप्त करना सामाजिक दृष्टि से अनुचित है। पारमार्थिक दृष्टि से साधनों द्वारा राज्य सत्ता प्राप्त करने की इच्छा सामाजिक दृष्टि से त्याज्य नहीं है।

आचार्य महाप्रज्ञ ने समाज व्यवस्था के भी कुछ सूत्र दिये जो समाजशास्त्रियों के लिए विचार का विषय हैं। कुछ महत्तवपूर्ण सूत्र इस प्रकार हैं-

व्यक्ति एक है। समाज अनेकों का समूह है। एक और अनेक अन्योन्य सापेक्ष हैं। यदि केवल एकता होती तो समस्त ब्रह्माण्ड एक पिण्ड बनकर रह जाता। यदि केवल अनेकता होती तो समस्त ब्रह्माण्ड अणु अणु में बिखर जाता क्योंकि एक अनेक के और अनेक एक के सापेक्ष हैं, इसलिए व्यक्ति और समाज की परस्पर सापक्षता है। समाज को यह नहीं भूलना चाहिये कि प्रत्येक व्यक्ति अपने में अनोखा है। उसे बलपूर्वक एक ढांचे में नहीं ढ़ाला जा सकता। उसकी अपनी स्वतन्त्रता का मूल्य है, उसकी अपनी गरिमा है। यदि समाजवाद असफल होता है तो उसकी असफलता के कारणों में मुख्य कारण है व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण। जब व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर आघात होता है तो व्यक्ति समाज के विरुद्ध विद्रोह कर उठता है। साथ ही व्यक्ति को भी यह समझना चाहिए कि समाज का निर्माण पारस्परिक सहयोग के लिए हुआ है। यदि वह स्वतन्त्रता चाहता है तो उसे दूसरे की स्वतन्त्रता का भी सम्मान करना होगा।

प्रश्न होता है कि यदि दूसरे व्यक्ति के विचार हमसे भिन्न हैं तो हम उस व्यक्ति को कैसे सम्मान दे सकते हैं? समाधान यह है कि कोई भी विचार एक सीमित सत्य को ही पकड़ सकता है, जबकि सत्य स्वयं में असीम है। ऐसी स्थिति में होता यह है कि हमारा विचार सत्य के जिस पक्ष को ग्रहण करता है किसी अन्य व्यक्ति का विचार सत्य के दूसरे पक्ष को अभिव्यक्त कर रहा होता है। सत्य का एक आयाम नहीं है। सत्य बहु-आयामी है। इसी कारण सत्य को सुन्दर बनाता है, क्योंकि इसके कारण सत्य में विविधता आती है। यदि सत्य एक आयमी हो तो वह एकरस हो जायेगा और शीघ्र ही चुककर नीरस और भौंडा बन जायेगा। हम पूरी दृढ़ता से अपने विचार स्वातन्त्र्य की रक्षा करें किंतु दूसरे के विचारस्वातन्त्र्य में हस्तक्षेप न करें, उसका सम्मान करें। इस प्रकार सत्याग्रह और अनाग्रह दोनों साथ-साथ चलने चाहिये।

जहां तक पारस्परिकता है वहां तक समाज है। किसान खेती करता है। उससे उत्पन्न होने वाला अनाज व्यापारी बेचता है। आटा पीसने वाला उस अनाज को पीसता है। पाचक उससे रोटी बनाता है। यहां तक की प्रक्रिया सामाजिक है। किंतु भोजन पचाने की प्रक्रिया व्यक्तिगत है। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि एक ही प्रक्रिया का एक भाग सामूहिक होता है द्सरा भाग व्यक्तिगत इसलिए दोनों को अलग नहीं किया जा सकता। तथापि दोनों का मिश्रण भी नहीं किया जा सकता। अनाज उगाने से रोटी बनाने की प्रक्रिया यदि एक ही व्यक्ति करना चाहे तो यह उसके लिये बहुत दुष्कर होगा और भोजन पचाने की क्रिया एक से अधिक व्यक्ति मिलकर करें यह तो सम्भव ही नहीं है। इस प्रकार समष्टिगत और व्यष्टिगत भाग यह पृथक्-पृथक् हैं किन्तु साथ ही यदि भोजन पचाना न हो तो रोटी बनाना व्यर्थ है। इसी प्रकार यदि रोटी पकाई ही नहीं जाये तो भोजन पचाने की प्रक्रिया प्रारम्भ ही नहीं हो सकती।

हमारा व्यक्तित्व जड़ और चेतन का समवाय है। इसलिए कर्म हमारे साथ जुड़ा है। जड़ को कर्म की आवश्यकता है। चेतन की अपेक्षा कर्ममात्र विभाव है। चेतन का स्वभाव धर्म है। धर्म व्यक्तिगत है, उसका आधार ज्ञान है। कर्म समष्टिगत है। जब सामूहिक हितों को ध्यान में रखकर कर्म किया जाता है तब वह कर्म कर्त्तव्य कहलाता है।

भारत की परम्परा में धर्म और कर्त्तव्य के बीच यह स्पष्ट भेदरेखा नहीं खींची गयी कि धर्म का सम्बन्ध व्यक्तिगत चेतना से है और कत्तव्य का सम्बन्ध सामूहिक हितों से है। कर्त्तव्य को धर्म से पृथक् करने के लिए नगर, धर्म, कुलधर्म, राष्ट्रधर्म आदि अनेक शब्दों का प्रयोग हुआ। आचार्य भिक्षु ने हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट किया कि कर्त्तव्य और धर्म की अवधारणाएं भिन्न-भिन्न हैं। पश्चिम के चिन्तन में यह भेद प्रारम्भ से ही स्पष्ट है, वहाँ के विद्वानों द्वारा की जाने वाली कर्त्तव्य मीमांसा में धर्म का मिश्रण नहीं रहता।

धर्म और कर्त्तव्य भिन्न हैं, किंतु एक दूसरे के सहायक हैं। धर्म शाश्वत और सार्वभौम है। कर्त्तव्य देश, कालानुसार बदलता रहता है। करुणा का भाव शाश्वत है। यह धर्म है। किंतु भिखारी को भीख देना कभी ठीक समझा जाता था, आज गैर-कानूनी माना जाता है। यह कर्त्तव्य का क्षेत्र है। जब हम कर्त्तव्य को ही धर्म मान लेते हैं तो रूढ़िवाद पनपता ह क्योंकि उस दशाा में हम उस कर्म को भी किये जाते हैं जो कभी देश, काल परिस्थितिवश ठीक था किन्तु, जिसका पालन करना वर्तमान में केवल अनावश्यक ही नहीं हो गया, हानिकारक भी हो गया है। उदाहरणत: मुगल काल में स्त्रियों को शिक्षित करना इसलिए बन्द कर दिया गया कि उनका

घर से बाहर निकलना सुरक्षित नहीं था। आज यदि इस आधार पर कोई स्त्री शिक्षा का विरोध करे तो यह रूढ़िवाद होगा। अभिप्राय यह है कि कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का निर्णय देशकाल परिस्थिति के अनुसार बदलता है। उसे शाश्वत धर्म नहीं मानना चाहिये। इसी प्रकार धर्म के आधार पर भी कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का निर्णय नहीं करना चाहिये। अहिंसा धर्म है। हिंसा अधर्म है। किन्तु इस आधार पर कोई सैनिक रणभूमि में अपने कर्त्तव्य कर्त्तव्य का निर्णय नहों लेता है।

धर्म और कर्त्तव्य परस्पर भिन्न हैं। पर इनमें कोई सम्बन्ध न हो ऐसा नहीं है। सभी भेदों के बीच अभेद का भाव भी छिपा ही रहता है। कर्त्तव्य देशकालातीत धर्म की उपेक्षा नहीं कर सकता। हम पहले हली कह चुके हैं कि सामाजिक दृष्टि से श्रावक हिंसा की थोड़ी छूट रखता है, यह उसका अव्रत है। किन्तु श्रावक क्रूर नहीं हो सकता। हिंसा उसकी विवशता हो सकती है किन्तु वह हिंसा में रस नही ले सकता, इस प्रकार उसका कर्त्तव्य पालन भी कहीं न कहीं धर्म के भाव स भावित रहता है।

दर्शन में ज्ञान और कर्म की चर्चा है। ज्ञान का सम्बन्ध निवृत्ति से है, कर्म का सम्बन्ध प्रवृत्ति से है। ज्ञान स्वगत है, कर्म परगत है। समाज को मुख्यत: कर्म की चिन्ता रहती है। भारतीय दर्शन मुख्यत: ज्ञान की चिन्ता करता है। वैदिक चिन्तन की प्राचीन परम्परा में संभवत: ज्ञान और कर्म का समन्वय अपेक्षित था। किन्तु मध्य युग में ज्ञान और कर्म को परस्पर विरोधी मान लिया गया। प्राचीन काल में ज्ञान और कर्म के बीच समन्वय इस प्रकार किया गया कि कर्म से भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है और ज्ञान से अमृतत्त्व की प्राप्ति होती है। आचार्य महाप्रज्ञ ने समाज के परिप्रेक्ष्य में माध्यस्थ भाव को ज्ञान और कर्म का मिलन बिन्दु माना है। उनका कहना है कि यदि हमारे ज्ञान में माध्यस्थ भाव न होगा तो हम दुराग्रही बन जाएंगे और यदि हमारे कर्म से माध्यस्थ भाव न होगा तो हमारा व्यवहार पक्षपातपूर्ण होगा। दुराग्रह संघर्ष को जन्म देता है। पक्षपात पूर्ण व्यवहार भ्रष्टाचार का जनक है। दोनों ही स्थितियाँ समाज के लिए घातक हैं।

प्राय: जैनदर्शन को भेदप्रधान माना जाता है। वस्तुस्थिति यह है कि जैनदर्शन भेदाभेदवादी है। आचार्य महाप्रज्ञ ने हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट किया कि प्रकृति में हमें जहां अभेद प्रतीत होता है, वहाँ व्यवहार चलाने के लिए हमें भेद करना होता है। आकाश अखण्ड है किन्तु उसमें रहा नही जा सकता। रहने के लिए आकाश को खण्डित करके मकान बनाना होगा। एक आत्मा और दूसरी आत्मा में भेद नहीं है। यह पारमार्थिक दृष्टि है। किन्तु व्यवहार चलाने के लिए हम गुरू-शिष्य, स्वामी-भृत्य, पिता-पुत्र जैसे भेद खड़े कर लेते हैं। यदि ये भेद न किए जाएं

तो व्यवहार चल ही नहीं सकता। व्यवहार के लिए भेद को मान्यता प्रदान करना जितना आवश्यक है उतना ही आवश्यक यह याद रखना भी है कि परमार्थत: अभेद है।

जब हम पारमार्थिक अभेद को भूल जाते हैं तो शोषण का प्रारम्भ होता है। तब भगवान् महावीर के ये वचन हमारी आंखों से ओझल हो जाते हैं- जिसे व्यक्ति यह मानता है कि वह हनन करने योग्य है वह व्यक्ति वह स्वयं ही है जो ऐसा मानता है। यह आदेश भेद में छिपे अभेद के आधार पर दिया गया है। यह अभेद ही वर्तमान साम्यवाद का उद्‌गमस्थल है। किन्तु यदि साम्यवाद यह मानता है कि व्यवहार में पूर्ण समानता संभव है तो यह भेदपक्ष की उपेक्षा करना होगा। प्रत्येक व्यक्ति में गुण, योग्यता और सामर्थ्य का तारतम्य रहता है। व्यवहार में सबको समान मानने का अर्थ है- इस तरतमता की उपेक्षा करना और योग्यता तथा सामर्थ्य की अवमानना करना। साम्यवाद का मूल आर्थिक नीति है। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार किसी भी आर्थिक नीति को तीन बातों का ध्यान रखना चाहिए।

१. सबको जीवन की मूलभूत आवश्यकताएं प्राप्त होनी चाहिए। समाज के किसी भी व्यक्ति को इतना उपेक्षणीय नहीं माना जाना चाहिए कि उसे पेट भर रोटी भी न मिले और तन पर ढ़कने को कपड़ा न मिले। न्यूनतम आवश्यकता सब की पूरी होनी चाहिए।

२. सबको न्याय मिलना चाहिए। किसी को ये अनुभव न हो कि उसे वह नही मिल रहा जिसका वह अधिकारी है। न्याय का आधार गुण की तरतमता है।

३. सबको सम्मान मिले क्योंकि परमार्थ की दृष्टि से सभी समान हैं। इसलिए किसी को किसी का अपमान करने का अधिकार नहीं है।

इन तीनों पक्षों में किसी एक पक्ष की भी उपक्षा हो जाए तो ऐसी आर्थिक नीति अधूरी ही कहलाएगी। सन्तुलित आर्थिक नीति बिना अहिंसा प्रतिष्ठित नहीं हो सकती। जहाँ संग्रह का भाव है चाहे वह व्यक्ति में हो चाहे राष्ट्र में, वहां संग्रह छिन जाने का भय भी है। वह भय शस्त्रों का निर्माण कराता है और शस्त्र हिंसा को जन्म देते है। अध्यात्म में अहिंसा को उपयोगिता की कसौटी पर नहीं कसा जाता है। उसका अपना स्वतंत्र मूल्य है। आध्यात्मिक अंहिसा उपयोगी, अनुपयोगी और विरोधी के बीच भेद नहीं करती। किन्तु समाज में अहिंसा की दूसरी कसौटी है, जो समाजकंटक है, समाज में हम उसके प्रति अहिंसक नही होते। कोई व्यक्तिगत स्तर पर किसी अन्यायी अथवा अपराधी को क्षमा कर भी सकता है, किन्तु देशपर आक्रमण करने वाला पूरे राष्ट्र का अपराधी है, उसे क्षमा नहीं किया जा सकता।

परिग्रह के स्तर पर भी व्यक्ति का लक्ष्य अपरिग्रह हो सकता है, किन्तु राष्ट्र का लक्ष्य तो सम्पन्नता ही है। राष्ट्र के सन्दर्भ में अपरिग्रह का अर्थ होगा दूसरे राष्ट्र का शोषण किए बिना हम अपने परिश्रम के बल पर सम्पन्न बनें। आज सामाज्यवाद का युग नहीं है। इसमें कोई राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र को पराधीन बनाने की बात कम ही सोचता है। लेकिन विकसित देशों में विकासशील अथवा अविकसित राष्ट्रों को आर्थिक रूप से परतन्त्र बनाने की बात नए साम्राज्यवाद के रूप में हमारे सामने आ रही है।

प्राय: यह समझा जाता है कि अभाव हिंसा का कारण है। अभाव में दु:ख होता है, यह सच है। लेकिन यह भी सच है कि अतिभाव अशांति उत्पन्न करता है। इसलिए विपन्न देशों में तो हिंसा है ही, सम्पन्न देश में भी हिंसा है। सच यह है पदार्थ समस्या उत्पन्न नहीं करते। समस्या आसक्ति है। आसक्ति मन को अशांत बनाती है। जो अशांत है वह सहज नहीं हो सकता और जो सहज नहीं है वह आत्मा दर्शन नहीं कर सकता। आत्मदर्शन के बिना हमारा समस्त ज्ञान विपरीत होता है। इसलिए अभाव न भी हो तो भी आत्मा से अनभिज्ञ व्यक्ति शांति प्राप्त नहीं कर सकता। जो स्वयं शांत नहीं है वह अपने आसपास भी अशांति ही फैलायेगा।

जहाँ अनेकता है, वहाँ भेद है। जहाँ भेद है वहाँ समस्या इसलिए उत्पन्न होती है कि भेद छिपे अभेद को भुला दिया जाता है। भेद स्वतंत्रता और अभेद समानता चाहता है। समानता-निरपेक्ष स्वतंत्रता स्वच्छन्दता है और स्वतंत्रता-निरपेक्ष समानता परतंत्रता है। स्वतंत्रता और समानता के बीच संतुलन बना रहे तो दोनों साथ-साथ रह सकते है। यही सहास्तित्व का मूलमन्त्र है। पूँजीवादी व्यवस्था स्वतंत्रता पर बल देती है। साम्यवादी व्यवस्था समानता पर बल देती है। आचार्य महाप्रज्ञ ने दोनों के बीच समन्वय स्थापित करने की बात की। उनके इस विचार का आधार वह साधुसंघ है जिसके वे स्वयं कर्णधार हैं। उस साधुसंघ में सब समान हैं। भगवान महावीर को घोष है- न कोई छोटा है, न कोई बड़ा है। जहाँ तक स्वतंत्रता का प्रश्न है, उस साधुसंघ के सभी साधुओं ने स्वतंत्रता की खोज में ही अपना घरबार छोड़ा हैं। इस साधुसंघ की सफलता के कुछ मूलमंत्र हैं। उन मूलमंत्रों में लोकतंत्र की सफलता के भी मन्त्र छिपे हैं।

पहला सिद्धान्त यह है कि संयम ही स्वतंत्रता की रक्षा कर सकता है। हमारी निरकुंश महत्त्वाकांक्षाएं हमारी स्वतंत्रता छीन रही हैं। यदि अपनी क्षमता और योग्यता के अनुरूप हमारी महत्त्वाकांक्षाएं हैं तो उनकी पूर्ति के लिए हम अनुचित उपाय नहीं बरतेंगे। किन्तु अपनी योग्यता का विचार किए बिना यदि हम आकांक्षा करते हैं तो हम उसकी पूर्ति के लिए अनुचित उपाय भी बरतेंगे। यही

भ्रष्टाचार का मूल है, जो लोकतंत्र की जड़ को खोखला कर देता है। लोकतंत्र में अनुचित उपाय का अर्थ है- भुजबल और धनबल का प्रयोग। लोकतंत्र की आत्मा यह है कि लोकतंत्र के माध्यम से जनता की इच्छा को अभिव्यक्ति और क्रियान्विति मिलनी चाहिए। किन्तु भुजबल और धनबल जनता की इच्छा को ढाँप लेते हैं और लोकतंत्र की मूल भावना तिरोहित हो जाती है।

भुजबल और धनबल के अतिरिक्त लोकतंत्र में संख्याबल भी बाधक बनता है। जब हमारे निर्णयों का आधार गुणवत्ता नहीं होती अपितु संख्या होती है, तब जातीयता और साम्प्रदायिकता को प्रश्रय मिलता है क्योंकि ये दो तत्त्व उस गुटबन्दी के काम आते हैं जिसका उपयोग वोट बैंक के रूप में किया जाता है। इन दो भावनाओं को उभारने के लिए ऐसी नीतियों की घोषणा कर दी जाती है जो न्यायसंगत नहीं होती है। सामान्यत: मनुष्य तर्क से कम और भावनाओं से अधिक प्रभावित होता है। इसलिए लोकतंत्र में भावनाओं को उभारा जाता है। इस प्रकार राष्ट्रहित की अपेक्षा वर्ग-विशेष का हित वरीयता पाता है।

उन सब समस्याओं के समाधान में धर्म महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। धर्म हमें यह स्मरण दिलाता है कि हम केवल शरीर नहीं हैं। यह बोध हमारे संकीर्ण स्वार्थों से ऊपर उठने में सहायक होता है। वस्तुस्थिति यह है कि मान, माया, क्रोध और लोभ की कषायों की अभिव्यक्ति समूह में ही मिलती है। इसलिए कषायां के अभाव में व्यक्ति ही निर्मल नहीं बनता, समाज भी स्वच्छ बनता है।

आत्मदृष्टि हमें सम्प्रदाय और जातीयता से ही ऊपर नहीं उठाती राष्ट्रीयता से भी ऊपर उठाती है। भूमण्डलीकरण के इस युग में उन्नीसवीं शताब्दी की संकीर्ण राष्ट्रीयता अपना अर्थ खो चुकी है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के भय से रक्षा के नाम पर शस्त्रों का संग्रह करता रहता है। इन शस्त्रों पर जितना व्यय होता है उतना व्यय यदि रचनात्मक कार्यों पर किया जाए तो आर्थिक अभाव कहीं भी विकासमें बाधक नही बनेगा। राष्ट्रों का विभाजन मनुष्यकृत है। प्रकृति ने पूरी पृथ्वी को एक बनाया हैं। जब तक यह न समझा जाएगा तब तक मूलभूत आवश्यकताओं के साथ-साथ स्वास्थ्य और चिकित्सा जैसे मदों पर खर्च करने के लिए पैसे का सदा अभाव बना रहेगा।

उग्र आतकंवाद आज पूरे विश्व के लिए एक समस्या बन चुका है। हिंसा का बीज यह समझ है कि पूरे अस्तित्व में हम केन्द्र में हैं और इसलिए हम मुख्य हैं, शेष सब गौण हैं। इसके विपरीत अहिंसा का मूल यह समझ है कि प्रत्येक अपने आप में एक केन्द्र है, परिधि में कोई नहीं है। इसलिए सब समान हैं, न कोई

मुख्य है न कोई गौण है। सब अपने-अपने में मूल्यवान् हैं। किसी का मूल्य इस आधार पर नही आंका जा सकता कि वह हमारे लिए कितना उपयोगी है।

जब अनेक होते हैं तो एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता आवश्यक हो जाती है। इसलिए अनेकों के बीच रहना एक प्रकार का प्रशिक्षण है। जो अकेला है वह भला बना रह सकता है किन्तु उसके भलेपन की परीक्षा समाज में होती है, जब वह अनेकों के बीच रहता है। इसलिए नैतिकता का विकास समाज में ही होता ह। प्रामाणिाकता की परीक्षा भी समाज में ही होती है। इसलिये धर्म समाज की उपेक्षा नहीं कर सकता। साक्षिभाव आध्यात्मिक मूल्य है। कर्त्तव्य-पालन सामाजिक मूल्य है। किन्तु कर्त्तव्यपालन में भी साक्षी भाव रहना चाहिए। यह आध्यात्मिकता का का सामाजिकता को योगदान है। यदि साक्षिभाव न हो तो कर्त्तव्यपालन भी एक सूक्ष्म किन्तु सघन अहंकार को जन्म दे सकता है। यह अहंकार टकराव पैदा करता है और टकराव से बिखराव होता है। इस प्रकार राष्ट्रीय एकता का अथवा संगठन का लक्ष्य दूर चला जाता है।

आध्यात्मिक और सामाजिक मूल्य के अतिरिक्त कुछ और मूल्य भी हैं जो व्यक्तिपरक होने पर भी स्वस्थ समाज के निर्माणा में सहायक हैं। चिन्तन की स्वतंत्रता बौद्धिक मूल्य है। जहाँ यह नहीं होता वहाँ परम्परा रूढि में बदल जाती है। परम्परा का अर्थ न पुरातन की पूजा करना है और न पुरातन की निन्दा करना। परम्परा का अर्थ पुरातन से अधिक उत्कृष्ट नवीन खड़ा कर देना है। यह चिन्तन की स्वतंत्रता से ही संभव है।

संतुलन मानसिक मूल्य है। इसके बिना व्यक्ति विक्षिप्त हो जाता है। मनोवैज्ञानिकों ने कहा था कि ब्रह्मचर्य व्यक्ति को विक्षिप्त कर सकता है। किन्तु आज हमारे सम्मुख उससे एक बड़ा सत्य आकर खड़ा हो गया है कि उन्मुक्त यौनाचार पूरे पश्चिम को विक्षिप्त कर रहा है। सच तो यह है कि आध्यात्मिक उन्नति के लिए संयम जितना आवश्यक है, सामाजिक उन्नति के लिए भी उससे कुछ कम आवश्यक नहीं है।

भगवान् महावीर ने कहा जो अन्तर् को जानता है वही बाह्य को जान सकता है और जो बाह्य को जानता है वही अध्यात्म को जान सकता है। इसलिए अध्यात्म यदि बाहर से भीतर जाने का प्रयोग है तो सामाजिकता को भी भीतर से बाहर आने का प्रयोग बनना चाहिए। तो सामाजिकता को भी भीतर से बाहर आने का प्रयोग बनना चाहिए। जो सामाजिकता अन्तर् की उपेक्षा करती है- वह कभी भी धराशायी हो सकती है।

नीति का शब्दार्थ है- जो लक्ष्य तक ले जाए। धर्मनीति का लक्ष्य है- आत्म शुद्धि। राजनीति का लक्ष्य है- राष्ट्र का योगक्षेम। अर्थनीति का लक्ष्य है- भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति, समाजनीति का लक्ष्य है- पारस्परिक सहयोग। इन सभी नीतियों का संयोजन इस प्रकार होना चाहिए कि अथ काम को बाधित न करे। अर्थ काम और धर्म को बाधित न करे तथा धर्म काम और अर्थ को बाधित न करे। यह सामाजिक दृष्टि से संतुलित जीवन का आदर्श है।

यह सच है कि अध्यात्म का आधार यदि वैराग्य है तो सामाजिकता का आधार रागात्मकता है। इस दृष्टि से दोनों परस्पर विरोधी हैं किन्तु यह भी सच है कि जैसे सत्य के बिना झूठ नहीं चल सकता उसी प्रकार वैराग्य के बिना राग नहीं चल सकता। हम जब कुछ प्राप्त करना चाहते हैं तो उसके लिए कुछ त्याग भी करना पड़ता है। अभीप्सा राग है तो त्याग में वैराग्य है। जब कोई बिना त्याग किए वैराग्य प्राप्त करना चाहता है तो वह प्रकृति के इस नियम की उपेक्षा करता है कि बिना विसर्जन के अर्जन कहीं भी शुभ नहीं होता। बिना नीहार के आहार रोग का कारण बन सकता है, शरोर की पुष्टि का नहीं। किन्तु जब हम अज्ञान वश हेय को ही उपादेय मान बैठते हैं तो अनैतिकता का जन्म होता है। ज्ञान को समाज के लिए अनुपयोगी मान लिया जाता है किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। ज्ञान हमारे कर्मों की विशोधि का कारण है।

आत्मज्ञान के अभाव का अर्थ है- हेय-उपादेय, शत्रु-मित्र, अनुकूल-प्रतिकूल तथा सुख-दुःख की विपरीत अवधारणा। आत्मज्ञान का पहला फल है- शुभ-अशुभ की ठीक पहचान। समाज के लिए यह आवश्यक है। आत्मज्ञान का चरमफल है- शुद्ध भाव की ठीक पहचान । इसके बिना अध्यात्म घटित नही होता।

इस शताब्दी की नवीनतम समस्या है- पर्यावरण प्रदूषण। आचार्य महाप्रज्ञ ने इस समस्या के समाधान के लिए पांच नियमों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया-

१. जीव-अजीव एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। इनमें किसी की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

२. भौतिक वातावरण जीवों पर और जीव भौतिक वातावरण पर टिके हैं।

३. संसार में कहीं भी कुछ घटित होता है तो उससे पूरा विश्व प्रभावित होता है। सब घटनाएं वैश्विक हैं। कोई घटना स्थानीय नहीं है।

४. जोव तभी बच सकता है जब पर्यावरण में जो तत्त्व जिस अनुपात में है उसी अनुपात में रहें।

५. प्रकृति का सन्तुलन बना रहना आवश्यक है। इसके लिए अहिंसा और अपरिग्रह दोनों आवश्यक है।

भूमण्डलीकरण और आचार्य महाप्रज्ञ

विज्ञान के द्वारा आविष्कृत संचार माध्यमों तथा आवागमन के साधनों के कारण विश्व के विभिन्न राष्ट्र एक-दूसरे के इतना निकट आ गये है कि आज विश्व को एक गाँव के समान माना जा रहा है। शारीरिक रूप से एक दूसरे के निकट आने पर सहास्तित्व की समस्या उपस्थित होती है। भले ही विभिन्न राष्ट्रों के निवासी भौतिक रूप से एक-दूसरे के निकट आ गये हों किन्तु यदि मानसिक रूप से उनके बीच दूरी बनी रहती है तो संघर्ष की स्थिति पहले से भी अधिक विकट रूप धारण कर लेगी।

आचार्य महाप्रज्ञ ने इस संकट को देखा। वे एक सम्प्रदाय के आचार्य है। विज्ञान में सम्प्रदाय नही हैं, किन्तु धर्म के क्षेत्र में अनेकानेक सम्प्रदाय हैं। उन संप्रदायों के बीच वैचारिक संघर्ष रहता है। मध्ययुग में अनेक युद्ध संप्रदाय के नाम पर लड़े गये। आज भी अनेक संगठन सम्प्रदाय के नाम पर दूसरे सम्प्रदाय वालों को विरोधी मानकर उनके विरूद्ध सशस्त्र अभियान चलाते रहते हैं। स्वयं जैन सम्प्रदाय में भी यह माना जाता है कि सम्यग्दर्शन के बिना मुक्ति नहीं हो सकती और सम्यग्दर्शन का प्राय: यह लक्षण दिया जाता है कि जैन तत्त्व में श्रद्धा रखने वाला व्यक्ति ही सम्यग्दृष्टि रखता है। इस मान्यता के सम्बन्ध में आचार्य महाप्रज्ञ का कहना है कि 'मेरे सम्प्रदाय में आओ तब ही तुम्हारी मुक्ति होगी अन्यथा नहीं होगी- यह सम्प्रदाय और मुक्ति का अनुबन्ध साम्प्रदायिक उन्माद है।' वस्तुस्थिति यह है कि सम्यग्दर्शन मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होता है। जहां सम्यग्दर्शन रहता हे वहां अविनाभाव संबंध से अनन्तानुबंधी कषाय भी अनुपस्थित रहती है। यह सम्यग्दर्शन की सार्वभौम व्याख्या है जो कही भी किसी भी प्राणी में घटित हो सकती है। इस व्याख्या का अनुमोदन अश्रुत्वा केवली की अवधारणा से होता है। अश्रुत्वा केवली सम्प्रदायातीत है, जैन नहीं; फिर भी वह अपनी निर्मलता के द्वारा परिपूर्णता को प्राप्त कर लेता है। एक दूसरी अवधारणा अन्यलिङ्गिसिद्ध की है। इस अवधारणा के अन्तर्गत यह माना जाता है कि कोई साधक जैनेतर सम्प्रदाय में रहकर भी मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। अभिप्राय यह है कि मुक्ति का कारण धर्माचरण है न कि किसी सम्प्रदाय विशेष के प्रति प्रतिबद्धता है।

जो जैन सम्प्रदाय में नही है, वह मिथ्यादृष्टि है; जो वेदों को नही मानता, वह नास्तिक है- ऐसी सभी साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देने वाली मान्यताओं के

विरूद्ध आचार्य महाप्रज्ञ ने धर्म का शंखनाद किया। धर्म के शंखनाद की ध्वनि जहां भी पहुँचे वह सम्प्रदाय पवित्र हो सकता है। किन्तु जहां धम का शंखनाद न पहुँचे, ऐसा कोई भी सम्प्रदाय अतिरिक्त उन्माद के कुछ नही दे सकता। आचार्य महाप्रज्ञ ने यह क्रान्तिकारी स्वर भी दिया कि मोक्ष के लिए सन्यास भी अनिवार्य नहीं है। उनका कहना है- ''भगवान् ने 'गृहलिंगसिद्ध' को स्वीकृति देकर क्या मोक्ष-सिद्धि के लिए मुनि-जीवन की एकच्छत्रता को चुनौती नहीं दी? घरवासी गृहस्थ भी मुक्त हो सकता है- इसका अर्थ है कि आराधना अमुक प्रकार के वेश या अमुक प्रकार की जीवन-प्रणाली को स्वीकार किए बिना भी हो सकती है। जीवनव्यापी सत्य जीवन को कभी और कही भी आलोकित कर सकता है- इस सत्य को अनावृत कर भगवान् ने धर्म को आकाश की भांति व्यापक बना दिया।''

आचार्य महाप्रज्ञ की यह असाम्प्रदायिक दृष्टि इतनी गहरी है कि जिस समय भगवान् महावीर के साथ-साथ भगवान् बुद्ध तथा कुछ अन्य तीर्थंकर और धर्माचार्य धर्म के रहस्यों को उद्घाटित कर हरे थे उस समय का चित्र खींचते हुए वे लिखते है, '' एक सत्य अनेक वचनों द्वारा विकीर्ण हो रहा था। एक आलोक अनेक खिड़कियों से फूट रहा था।''

आचार्य महाप्रज्ञ ने केवल असाम्प्रदायिकता को सिद्धान्त में ही प्रतिपादित नहीं किया, व्यवहार में भी घटाया। अपने पूरे ग्रन्थ में उन्होंने जहाँ-जहाँ महावीर क पहले भगवान् शब्द लगाया वहाँ-वहाँ बुद्ध के पहले भी भगवान् विशेषण ही लगाया। इतना ही नहीं उन्होंने भगवान् महावीर के प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी गोशालक के पूर्व भी आचार्य का सम्मानसूचक विशेषण लगाया तथा मनु और गौतम को भी महर्षि कहा। ऐसा करते समय उनकी सम्प्रदायिकता कहीं आड़े नहीं आई, अपितु धार्मिक की तटस्थता ही केन्द्र में रही।

सम्प्रदाय धर्म संस्थान है। धर्मसंस्थान देश काल के अनुसार बदलता है। धर्म देश और काल से परे है। सत्य एकरूप होता है। यह श्रमणों का सत्य और यह वैदिकों का सत्य यह - भेद नहीं हो सकता। वैदिक धर्म और श्रमण धर्म, जैन धर्म और बौद्ध धर्म ये धर्म संस्थान हैं, भिन्न और परस्पर विरोधी भी ये सत्य को शब्द के माध्यम से पकड़ने का प्रयत्न करते हैं जैसे एक शिशु तालाब में पड़ने वाले सूर्य के प्रतिबिम्ब को पकड़ने का प्रयत्न करता है।[१]

आचार्य महाप्रज्ञ तुलना करते हैं, किन्तु बिना किसी एक पक्ष का ऊंचा या नीचा दिखाये हुये। उनके सामने राम का चरित्र भी है और महावीर का चरित्र भी । तुलना के स्वर में वे कहते है, 'राम के शत्रु हैं- भद्र मनुष्यों की स्वतन्त्रता का अपहरण करने वाले दस्यु, महावीर के शत्रु हैं- आत्मा का स्वतन्त्रता का अपहरण

करने वाले संस्कार। राम ने शत्रुओं का दमन किया धनुष से और महावीर ने उनका दमन किया ध्यान और तपस्या से। राम कर्मवीर हैं और महावीर धर्मवीर हैं। ये दोनों भारतीय संस्कृति के ऐसे दो चक्र हैं जिनसे उन्हें निरन्तर गति मिली है और मिल सकती है।

साम्प्रदायिकता का एक सहोदर जातिवाद है। आचार्य महाप्रज्ञ ने जातिवाद को मनुष्य के शरीर की केंचुली बताया जिससे मनुष्य अन्धा हो जाता है। जब तक मनुष्य इस कंचुली को नहीं छोड़ता तब तक वह नहीं देख सकता।

आचार्य महाप्रज्ञ ने साम्प्रदायिक निष्पक्षता का प्रतिपादन ही नही किया उसे व्यवहार में प्रदर्शित भी किया। भगवान् महावीर का विवाह हुआ था या नहीं- यह दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में विवाद का विषय है। स्वयं श्वेताम्बर परम्परा के अनुयायी होने पर भी आचार्य महाप्रज्ञ ने इस विषय में तटस्थता बरतते हुए केवल इतना ही कहा कि सिद्धार्थ और त्रिशला के सम्मुख महावीर के विवाह का प्रस्ताव आया था । किन्तु महावीर ने उसे अस्वीकार कर दिया। उन्होंने टिप्पण में श्वेताम्बर दिगम्बर परम्परा के मतभेद का केवल उल्लेख कर दिया, किसी भी परम्परा के प्रति अपना आग्रह नहीं दिखाया।

भूमण्डलीकरण और सहास्तित्व

सहास्तित्व का प्रश्न विरोध की स्वीकृति से जुड़ा है। विरोध को सामान्यत: हानिकारक समझा जाता है। समाज-धर्म और अध्यात्म में आपातत: विरोध है किन्तु अनेकान्त के अन्तर्गत परस्पर विरोधी धर्मों के बीच भी समन्वय स्थापित करना होता है। सृष्टि में विरोधी युगल साथ-साथ रहते हैं। उनमें विसंगति का आरोप हमारी बुद्धि करती है। वस्तु में विरोध संतुलन बनाता है, न कि विसंगति। जैसे एक अर्धवृत्त दूसरे अर्धवृत्त का विरोधी होकर भी वृर्तुल को पूर्ण बनाने में उसका सहयोगी होता है, उसी प्रकार एक धर्म दूसरे धर्म का विरोधी होकर भी तत्त्व को परिपूर्ण बनाने में सहायक होता है, बाधक नहीं। यही सहास्तित्व का मूल मंत्र है।

सहास्तित्व का सिद्धान्त परस्पर विरुद्ध धर्मों के समन्वय करने की क्षमता पर आधृत है। उसका एक व्यावहारिक उदाहरण है जैन साधना की परम्परा। यह परम्परा व्यवक्ति को स्वतन्त्र रूप से साधना करने की भी अनुमति देती है और संघबद्ध साधना का भी प्रतिपादन करती है। आचार्य महाप्रज्ञ ने प्रश्न उठाया, ''अध्यात्म वस्तुत: वैयक्तिक होता है वह संघबद्ध कैसे हो सकता है? सत्य को साक्षात्कार करने के लिये असीम स्वतन्त्रता अपेक्षित होती है। संघीय जीवन में वह

प्राप्त नहीं हो सकती। उसमें समझौता चलता है। सत्य में समझौते के लिये कोई अवकाश नहीं है। '' इस स्थिति के बावजूद संघबद्ध साधना भी चली। संघबद्ध साधना का आधार है कि ऐसे साधक जो सहयोग की अपेक्षा रखते हों, संघ में रहकर साधना करें। जो अकेले में रहकर साधना कर सकते हों, वे एकाकी साधना करें। यह सहास्तित्व के सिद्धान्त का व्यावहारिक प्रयोग था। हम अपनी जीवन शैली से जीयें, किन्तु दूसरे की जीवन शैली पर प्रश्नचिन्ह न लगायें। यदि कहीं कोई अनुचित कार्य कर रहा है तो भी हम दण्डबल का प्रयोग न करें; अपने तपोबल, मनोबल और तर्कबल से व्यक्ति का हृदय परिवर्तन करें। पाप के प्रतिकार का यह अहिंसक उपाय है। आचार्य महाप्रज्ञ ने उत्तराध्ययन के आधार पर महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाला कि जैन धर्म वेद के विरुद्ध विद्रोह नहों है। सच्चा धार्मिक विद्रोह नहीं करता, रूपान्तरण लाता है। भगवान् महावीर ने यह नहीं कहा कि वेद गलत है; उन्होंने केवल यह कहा कि लोग वेद का अर्थ नहीं समझ रहे हैं, केवल शब्दों का भार ढो रहे हैं–

तुब्भेत्थ भो! भारधरागिराणं
अट्ठं न जाणाह अहिज्ज वेए ।। (उत्तरा. १२/१५)

आचार्य महाप्रज्ञ के साम्प्रदायिकता के तथा सहास्तित्व के सम्बन्ध में उपर्युक्त विचार भूमण्डलीकरण के युग में अपना विशेष महत्त्व रखते हैं।

तर्क प्रवणता और आचार्य महाप्रज्ञ

धर्म को आस्था का विषय समझा जाता है। विज्ञान तर्क पर खड़ा है। वस्तुस्थिति यह है कि आचार्य विद्धसेन जैसे जैन दार्शनिकों ने पहले से ही विषयों को दो भागों में विभक्त कर दिया है– १. हेतुवादगम्य और २. आगमगम्य। इस विभाजन का आधार यह है कि जो विषय प्रत्यक्षगम्य है उनमें कार्यकारण सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है किन्तु जो विषय व्यावहारिक प्रत्यक्षगम्य नहीं है उनके सम्बन्ध में हमें उन साक्षातकृतधर्मा ऋषियों की वाणी को ही प्रमाण मानना होगा, जो पारमार्थिक प्रत्यक्ष द्वारा अतीन्द्रिय विषयों को जान लेते है। दूसरा आधार यह है कि स्वभाव का कोई कारण नहीं होता। अत: वहां तर्क की गति नही है। जल शीतल क्यों है? अग्नि उष्ण क्यों है? इन प्रश्नों का उत्तर इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है कि ऐसा उनका स्वभाव है।

सभी तत्त्वां में चेतना अथवा आत्मतत्त्व सूक्ष्मतम है। वह अपने शुद्ध स्वाभाविक रूप में कैसा है यह तर्क द्वारा जानना इसलिए और भी अधिक कठिन है कि उसमें रूप, रस, गंध, शब्द और स्पर्श जैसे ऐसे कोई भी गुण नहीं जिनका

ग्रहण इन्द्रियों द्वारा होता हो। अत: यह विषय भी आगम-गम्य की कोटि में ही आएगा। हाँ, आगमगम्य सभी विषयों का साक्षात्कार कोई आत्मा को निर्मल बनाकर योगज अथवा पारमार्थिक प्रत्यक्ष द्वारा कर सकता है।

वास्तुस्थिति यह है कि विज्ञान जैसे-जैसे अधिक विकसित उपकरणों का आविष्कार करता जाता है वैसे-वैसे हमारे प्रत्यक्ष की सीमा बढ़ती जाती है और जैसे-जैसे प्रत्यक्ष की सीमा बढ़ती है अनुमान की सीमा भी स्वत: ही बढ़ जाती है। इस प्रकार जो विषय कल तक आगमगम्य थे, वे आज विज्ञानगम्य भी हो गये हैं।

विज्ञान की इस प्रगति की प्रक्रिया से आचार्य महाप्रज्ञ पूर्णत: परिचित है। इसलिए उन्होंने अनुमान प्रकरण के अन्तर्गत किसी भी व्याप्ति को त्रैकालिक नही माना। उन्होंने भारतीय न्याय-शास्त्र के इतिहास में प्रथम बार यह क्रांतिकारी घोषणा की कि कोई भी व्याप्ति द्विकालिक ही होती है। हमारे अब तक के अनुभव के आधार पर हम यह स्थापना कर सकते है कि ऐसा होने पर ऐसा अवश्य होता है किन्तु भविष्य में हमारा अनुभव हमारे अब तक के अनुभव के विरूद्ध भी जा जा सकता है। ऐसी दशा में वह व्याप्ति खण्डित हो जाएगी।

आचार्य महाप्रज्ञ की उपर्युक्त स्थापना के सम्बन्ध में सहज ही यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या भविष्य में आगम की मान्यताओं पर भी प्रश्नवाचक चिन्ह लग सकता है। उत्तर यह है कि त्रिकालदर्शी सर्वज्ञों की वाणी शाश्वत सत्य का प्रतिपादन करती है, क्योंकि वे केवल अतीत और वर्तमान को ही नहीं जानते, भविष्य को भी जानते है। आज जो हमें परम्परा से प्राप्त है वह सभी सर्वज्ञ की वाणी नहीं है। आचार्य महाप्रज्ञ ने ऐसे सभी स्थापनाओं को नकार दिया जो सर्वज्ञ की वाणी का हिस्सा नही थी, लेकिन परम्परा से हमें प्राप्त थी, तथापित आधुनिक पाठक के लिए वे परम्परायें बुद्धिगम्य नही थी।

उदाहरणत: भगवान् महावीर के जीवन से अनेक चमत्कारिक घटनाएं जुड़ी हुई है। भगवान् महावीर के जीवन का प्राचीनतम उल्लेख आचाराङ्ग के प्राचीनतम वर्णन का ही अपना मुख्य आधार बनाते हुए यह पाया कि भगवान् महावीर के जीवन के साथ जिन चमत्कारों का उल्लेख है वे परवर्ती लेखकों के भक्तिभाव के अतिशय का परिणाम हैं। इस वैज्ञानिक युग में अतिशयोक्तियों पाठक को धर्म से विमुख बनाती हैं। उन्होंने भगवान् महावीर के चरित्र में से ऐसी समस्त अतिशयपूर्ण घटनाओं का निषेध करके अन्धविश्वास पर चोट की और धर्म को एक मानवीय रूप दिया।

एक घटना है- शूलपाणि यक्ष के मंदिर में भगवान् के सम्मुख हाथी और सर्प के आने की। हाथी उन पर प्रहार करता है सर्प उन्हें काटता है। महावीर

अविचलित रहते हैं। आचार्य महाप्रज्ञ ने इस घटना की तर्क सङ्गत व्याख्या की, ''भगवान् महावीर के पार्श्व में होने वाले अट्टहास, हाथी और विषधर उन्हीं के द्वारा प्रताड़ित संस्कारों के बिम्ब ह।'' इस एक वाक्य के द्वारा आचार्य महाप्रज्ञ ने अविश्वसनीय को विश्वसनीय बना दिया, अलौकिक को मानवीकरण कर दिया और भक्ति के अतिरेक में पनपने वाले अन्धविश्वास को विगलित कर दिया।

परम्परा है कि भगवान् महावीर ने साढ़े बारह वर्षों में केवल ४८ मिनट नींद ली। यह बात बुद्धिगम्य नहीं होती। भगवान् महावीर के जीवन का प्राचीनतम वृत्त आचाराङ्ग सूत्र में उपलब्ध है। उनमें इस परम्परा का उल्लेख नहीं है। आचार्य महाप्रज्ञ ने आचाराङ्ग के इस प्रमाण के आधर पर इस परम्परा का समर्थन नही किया; केवल इतना ही कहा कि भगवान् महावीर बहुत नहीं सोते थे। इतना ही नहीं आचार्य महाप्रज्ञ ने ''यथार्थवादी व्यक्तित्व अतिशयोक्ति का परिधान '' शीर्षक से एक पूरे अध्याय में भगवान् महावीर के जीवन के साथ जुड़ी हुई उन समस्त चमत्कारी घटनाओं को प्रक्षिप्त घोषित कर दिया जो घटनायें बुद्धिगम्य नहीं थी। उदाहरणत: महावीर द्वारा मेरु पर्वत के शिखर को बायें पैर के अंगूठे से कंपा देने जैसी घटनाओं को आचार्य महाप्रज्ञ ने मान्यता प्रदान नहीं की।

उपसंहार

आचार्य महाप्रज्ञ के द्वारा आधुनिक युग को एक दिशा देने का चंहुमुखी प्रयास हुआ है। शरीर के स्तर पर उन्होंने आधुनिक शरीर विज्ञान की उपलब्धियों को भारत की प्राचीन खोजों के साथ मिलकर जहाँ एक ओर आधुनिक शरीर-वैज्ञानिकों के लिए एक चुनौती प्रस्तुत की है वहाँ इस देश की प्राचीन विद्या को नया कलेवर भी प्रदान किया है; मनोविज्ञान की आड़ में पनप रहे स्वच्छन्दार के विरुद्ध उन्होंने संयम का शंखनाद किया, विचार से विचारातीतता तक की यात्रा का मार्ग दिखाया, समाजशास्त्र की पूंजीवादी व्यवस्था की निरंकुशता और साम्यवादी व्यवस्था के फौलादी नियन्त्रण के विकल्प में उन्होंने एक मध्यम व्रतवादी विकल्प प्रस्तुत किया है और न्यायशास्त्र के क्षेत्र में तर्क से तर्कातीत तक पहुंचने का मार्ग प्रस्तुत किया है।

स्वयं आचार्य महाप्रज्ञ अपने को यगद्रष्टा के रूप में देखते है, यह उनकी निरभिमानिता है। हम उन्हें युगप्रधान के रूप में देखते हैं, यह हमारा कृतज्ञता-ज्ञापन है। दोनों ही स्थितियों में उनका युगबोध तो रेखाङ्कित हो ही रहा है।

वस्तु को देखने में अनेक बाधायें होती है। अतिसामीप्य हमें वस्तु का दर्शन नही होने देता। अतिसामीप्य के कारण हम आचार्य महाप्रज्ञ को अभी पूरी तरह समझ नहीं पा रहे। उनका सही मूल्याङ्कन तो भविष्य के गर्भ में अन्तर्निहित है।

आचार्य तुलसी का भारतीय संस्कृति को योगदान

महामहोपाध्याय दयानन्द भार्गव

आदितीर्थंकर ऋषभदेव तथा आचार्य तुलसी

आचार्य तुलसी जैन परम्परा के संत थे। जैन परम्परा ने भारतीय संस्कृति को जो योगदान दिया उसी योगदान को आचार्य तुलसी ने आगे बढ़ाया-- ऐसा कहना चाहिए। जैन परम्परा का प्रारम्भ ऋषभ देव से होता है। स्वयं ऋषभ देव जैन परम्परा के प्रथम तीर्थंकर तो थे ही भागवत महापुराण के अनुसार वे विष्णु के अवतार भी थे। इस प्रकार वे वैदिक परम्परा के भी पूज्य पुरुष है, जैन परम्परा के तो आदि तीर्थंकर हैं ही। इन दोनों परम्पराओं में ऋषभ देव की मान्यता इसलिए हुई कि जहां उन्होंने अहिंसा और अपरिग्रह की जीवन शैली का प्रतिपादन किया वहां असि, मसि, कृषि, कला, वाणिज्य और शिल्प का प्रशिक्षण देकर सामाजिक जीवन को भी व्यवस्थित किया। अध्यात्म के अग्रणी होने के नाते वे जैन परम्परा की श्रद्धा के पात्र बने और समाज को व्यवस्थित करने के नाते वैदिक परम्परा के भी अवतारी पुरुष बन गये।

अणुव्रतः एक समाजशुद्धि का आन्दोलन

आचार्य तुलसी के जीवन पर दृष्टिपात करें तो पता चलेगा कि उन्होंने भी अपने जीवन में तीर्थंकर ऋषभ देव का अनुकरण करते हुए न केवल अध्यात्म की साधना को नेतृत्व प्रदान किया, प्रत्युत समाज की व्यवस्था में शुचिता लाने के लिए अणुव्रत नाम से एक बृहद् आंदोलन का भी सूत्र पात किया। इस नाते ऋषभ देव की तरह ही आचार्य तुलसी भी जितने सम्मान के पात्र जैन समाज में बने उतने ही सम्मान के पात्र अजैन समाज में भी बन गये। आचार्य तुलसी ने अध्यात्म का नेतृत्व किया। यह कोई नयी बात नहीं थी। जैन सम्प्रदाय और तेरापंथ सम्प्रदाय के सभी आचार्य अध्यात्म केन्द्रित रहे हैं। किन्तु जिस समय आचार्य तुलसी ने २२ वर्ष की अवस्था में तेरापंथ संघ की आचार्य के रूप में बाग ड़ोर सम्भाली, उस समय समाज की चिन्ता का ऐसा प्रभाव पड़ चुका था कि उस समय जिन पंथों का भी जन्म हुआ उन्होंने अपने नाम के साथ समाज शब्द जोड़ा। जैसे आर्य समाज, ब्रह्म समाज, देव समाज, प्राथना समाज इत्यादि। ये सभी सम्प्रदाय धर्म केन्द्रित थे, किन्तु इन्होंने अपने नाम के साथ पंथ या सम्प्रदाय या धर्म शब्द न जोड़ कर समाज शब्द जोड़ा। जिससे यह प्रकट होता है कि इनकी दृष्टि में समाज को महत्व मिला। वस्तुतः जिस समय अंग्रेजों के साथ ईसाई धर्म का प्रवेश इस देश में व्यापक रूप

में हुआ उस समय भारतीयों ने देखा कि ईसाई धर्म समाज सेवा को महत्व देता है और उसका व्यापक प्रभाव भी पड़ता है। स्वाभाविक था कि राम कृष्ण मिशन जैसी संस्थाओं ने सेवा को मुख्यता दी।

अणुव्रतः सर्वसम्मत आन्दोलन

तेरापंथ के सामने एक विकट प्रश्न था उसमें सेवा की कोई वैसी परम्परा नहीं थी जैसी परम्परा ईसाई धर्म में है। प्रश्न था कि क्या तेरापंथ भी कोई ऐसा उपक्रम कर सकता है जो समाजोपयोगी हो? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य तुलसी ने एक ऐसा मार्ग निकाला जो समाज के लिए एक अनुपम अवदान सिद्ध हो रहा है। आचार्य महाप्रज्ञ ने धर्म के क्षेत्र में नये प्रयोग की आवश्यकता पर बल देते हुए कहा **विज्ञान आज प्रयोगात्मक गति से चल रहा है, इसलिए वह विकासशील है। धर्म आज रूढ़ हो गया है और ऐसा हो गया है, मानो सत्य जो प्राप्य था, वह पा लिया, अब कुछ पाने को शेष नहीं। इस रूढ़ वृत्ति के कारण धर्म का विकास अवरुद्ध हो गया है। हमारे पूर्वज आचार्यों ने धर्म के नये-नये प्रयोग किए इसीलिए उसका विस्तार हुआ अनक अज्ञात तथ्य ज्ञात हुए (तुलसी विचार दर्शन पृ. ८९)।** उन्होंने पाया कि सामाजिक जीवन में भ्रष्टाचार निवारण की सबसे बड़ी आवश्यकता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यदि समाज में से गलत प्रवर्तियों को निकाल दिया जाये तो शुभ प्रवृतियाँ स्वयं ही शेष रह जायेंगी। उन्होंने यह भी पाया कि अशुभ प्रवृतियाँ कौनसी है इसके संबंध में प्राय सभी सम्प्रदायों में सहमति है किसी को कष्ट देना, झूठ बोलना, चौरी करना, अनुचित सैक्स संबंध तथा लोभवश अत्यधिक संग्रह करना कुछ ऐसी प्रवृतियाँ है जिनका अनुमोदन कोई भी समझदार व्यक्ति चाहे वह किसी भी सम्प्रदाय का हो नहीं करेगा। इस आधार पर उन्होंने एक आचार संहिता का निर्माण किया जो मुख्यतः गृहस्थों के लिए थी। वस्तुतः आचार्य तुलसी ने देखा कि अनैतिकता संगठित है जबकि नैतिक शक्तियां बिखरी हुई है। उन शक्तियों को परस्पर जोड़ने के लिए सर्वप्रथम एक ऐसे कार्यक्रम की आवश्यकता थी जो सभी को स्वीकार्य हो।

गृहस्थ धर्म और सन्यास धर्म

सन्यासी तो किसी प्रकार का पारिवारिक दायित्व या सामाजिक दायित्व न होने के कारण बुराईयों से पूरी तरह बच सकता है और उसे बचना भी चाहिए। इसलिए उसके लिए जो नियम बनें वे महाव्रत कहलाते है। किन्तु गृहस्थ को कहीं

ना कहीं समझौता करना पड़ता है इसलिए उसके नियम अणुव्रत कहलाते है। इस सम्बन्ध में आचार्य तुलसी ने एक भ्रांति को दूर करते हुए स्पष्ट किया की **'मैं समाज की आवश्यकता प्रवृत्तियों को समाज-धर्म या राष्ट्र-धर्म मानता हूं। सामाजिक भूमिका में पुण्य-पाप की मीमांसा नहीं है। समाज की आवश्यक प्रवृत्तियों को पाप कहना उचित नहीं है। विवाह के मंगल प्रसंग में वर-वधु को माला पहनाई जाती है, क्या कोई उसे पाप करेगा? राष्ट्र की सुरक्षा के लिए युद्ध लड़ा जाता है, क्या उसे कोई पाप-पाप पुकारेगा? यह पाप-पाप की पुकार केवल भ्रांति फैलाने के लिए है।**

हमारा सिद्धांत यही है कि हम हिंसा और अहिंसा की भूमिका को भिन्न-भिन्न मानते हैं। इसी प्रकार लौकिक और लोकोत्तर की भूमिका को भी भिन्न-भिन्न मानते हैं। यह भूमिका भेद सामाजिक विकास का बाधक नहीं, प्रत्युत प्रेरक बनता है और मनुष्य में सामाजिक कर्तव्य की भावना उत्पन्न करता है।' (पृ. १२९)

समाज की बहुलवादी प्रकृति

जब हम समाज पर विचार करते है तो यह बात ध्यान में रखनी होती है कि समाज में किसी एक पंथ के लोग ही नहीं रहते है। इसलिए उनके बीच ऐसी ही आचार संहिता मान्य हो सकती है जिसमें किसी पंथ या सम्प्रदाय को आपत्ति न हो। राजनीति के उदाहरण से कहा जा सकता है कि जैसे किसी मिलीजुली सरकार को न्यूनतम सांझा कार्यक्रम बनाकर चलना होता है जिसमें किसी एक दल का कार्यक्रम उतनी मात्रा में ही लक्ष्य बन पाता है जितनी मात्रा में वह दूसरे दलों को भी स्वीकार्य हो। इसे न्यूनतम सांझा कार्यक्रम कहा जाता है आचार्य तुलसी का अणुव्रत कुछ ऐसा ही समाजोपयोगी न्यूनतम सांझा कार्यक्रम है जिसे समाज के सभी वर्ग स्वीकार कर सकें। यद्यपि इस कार्यक्रम का नाम अणुव्रत है तथापि यह कार्यक्रम जैन धर्म के परम्परागत अणुव्रत से भिन्न है। परम्परागत अणुव्रत के लिए अणुव्रति का सम्यक् दृष्टि होना आवश्यक है। शास्त्रीय भाषा में कहें तो परम्परागत अणुव्रत का पंचम गुण स्थान है जो चतुर्थ गुण स्थान के बाद ही आ सकता है। किन्तु आचार्य तुलसी ने जिस अणुव्रत आन्दोलन नामक नये कार्यक्रम का प्रारम्भ किया उसके लिए सम्यक् दृष्टि आवश्यक नहीं है। **'जैन धर्म का अन्य धर्मों की भांति एक विशिष्ट तत्त्ववादी दर्शन और उपासना-पद्धति है किन्तु अणुव्रत का न कोई पृथक् तत्त्ववाद है और न कोई उसकी उपासना-पद्धति है। वह मात्र अध्यात्म को व्यवहार में प्रयुक्त कराने का उपक्रम है। किसी भी धर्म, दर्शन**

या उपासना पद्धति में विश्वास रखने वाला अणुव्रती हो सकता है।' (पृ. ३५)
स्थूल दृष्टि से कहें तो आचार्य तुलसी के द्वारा प्रवर्तित अणुव्रत का पालन कोई भी कर सकता है भले ही उसकी मान्यता जैन हो या न हो; भले ही वह नास्तिक भी क्यों न हो अर्थात् आत्मा या परमात्मा को भी न मानता हो। इस अणुव्रत आन्दोलन का उद्दश्य व्यवहार शुद्धि है। समाज के सभी वर्गों को एक दूसरे से व्यवहार करना होता है। उनकी दार्शनिक या धार्मिक मान्यता कुछ भी क्यों न हो किन्तु उनके व्यवहार में पारस्परिक नैतिकता का पुट तो रहना ही चाहिए अन्यथा समाज भी विश्रंखलित हो जायेगा। अणुव्रत आन्दोलन का यही आधार है। इसी कारण अणुव्रत आन्दोलन को न केवल सब धर्म पुरुषों के द्वारा अपितु सभी राजनैतिक दलों द्वारा भी पूरा समर्थन मिला। राजस्थान और मध्य प्रदेश की विधान सभाओं ने एकमत से अणुव्रत आन्दोलन का समर्थन किया। इन विधान सभाओं में अनेक सम्प्रदायों के और अनेक राजनैतिक दलों के व्यक्ति थे। किन्तु उन सब का एक मत से अणुव्रत का समर्थन करना इस बात का सूचक है कि आचार्य तुलसी ने जो आचार्य संहिता बनायी उसमें किसी का मतभेद नहीं है। उल्लेखनीय यह है कि यद्यपि डॉक्टर राधाकृष्णन् वेदान्त के समर्थक थे और अनेकान्तवाद के जैन सिद्धान्त से पूरी तरह सहमत नहीं थे तथापि उन्होंने ऐसे कुल ग्यारह लोगों में, जिन्होंने सार्थक जीवन जिया, एक नाम आचार्य तुलसी का भी जोड़ा। यह एक प्रबल प्रमाण है कि आचार्य तुलसी अपने जीवन काल में ही सम्प्रदाय में रहते हुए भी सम्प्रदाय से ऊपर उठकर एक वैश्विक महामानव के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। हम इस उपक्रम को इस रूप में देख सकते है कि आचार्य तुलसी ने एक सम्प्रदाय से जुड़े रहने पर भी एक ऐसी आचार्य संहिता हमें दी जो सार्वभौम है।

धर्म का वास्तविक स्वरूप

तेरापंथ सम्प्रदाय में और जैन धर्म में भी धर्म को अर्थ और काम की प्राप्ति का साधन नहीं माना जाता। उसके अनुसार हमारा लक्ष्य मोक्ष है और अर्थ और काम मोक्ष की प्राप्ति में बाधक है। दूसरी ओर समाज के लिए अर्थ और काम अनिवार्य है इन दो परिस्थितियों के बीच आचार्य तुलसी ने व्यवहार शुद्धि पर बल दिया। आचार्य तुलसी की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि सबसे अलग थी। वे धर्म का प्रयोजन अर्थ और काम की सिद्धि नहीं मानते थे। **धर्मादर्थश्च कामश्च** का सिद्धान्त उन्हें मान्य नहीं था। धर्म का प्रयोजन अर्थ और काम की सिद्धि नहीं है अर्थ और काम की शुद्धि है। **'धर्म के द्वारा समाज में प्रचलित प्रथाओं का परिष्कार किया जा सकता है, काम और अर्थ की अति का सीमाकरण किया जा सकता है किन्तु**

धर्म की प्रकृति समाज-व्यवस्था की प्रकृति से भिन्न है। समाज-व्यवस्था की उन्मुखता सामाजिक संगठन के सम्यक् संचालन की ओर है और धर्म की उन्मुखता आत्मा की ओर है (पृ. २३)।' एक तरह से देखें तो यह दृष्टि गीता के निष्काम कर्मयोग में बदल जाती है। कामना ही व्यवहार को दूषित करती है। सामाजिक प्राणी कामना को बिलकुल न छोड़ सकें तो कामना का सीमाकरण तो करें । यह आधार बनता है भगवान् महावीर के अर्थशास्त्रीय दर्शन था। आचार्य तुलसी ने अर्थशास्त्र के क्षेत्र में व्यापारियों के लिए जो नियम बनायें उसमें जमाखोरी या संग्रह का भी निषेध किया। इसके साथ ही विसर्जन का प्रतिपादन किया जिस पर पुन: यह आपत्ति आई कि विसर्जन दान का ही दूसरा रूप है। आचार्य भिक्षु यह मानते थे कि धन से धर्म नहीं हो सकता अत: दान धर्म का साधन नहीं। आचार्य तुलसी ने विसर्जन और दान में भेद किया। **अणुव्रत आंदोलन की दो अपेक्षाएं हैं- त्याग और अपरिग्रह (पृ. ३५)।** दान में दाता और ग्रहिता दोनों अर्थ पर अपना अधिकार मानते हैं किन्तु विसर्जन में मूर्च्छा या ममता का अभाव रहता है। इस संबंध में आचार्य महाप्रज्ञ का कहना है **'कुछ लोगों का तर्क है कि समाज-व्यवस्था में दान की परम्परा पहले से ही प्रचलित है। 'विसर्जन' से इसी परम्परा का निर्वाह होता है। फिर दान-व्यवस्था को नकार कर उसी तथ्य को शब्दों का नया परिधान देकर रखने का क्या अर्थ है ? तर्क के औचित्य को मैं अस्वीकार नहीं करता किन्तु मेरे अभिमत से दान और विसर्जन दो भिन्न वस्तुएं हैं दान में अहं और सम्मान की भावना सावकाश है, विसर्जन का संबंध ममत्व -मुक्ति से है। (पृ. ७०)** आचार्य तुलसी ने विसर्जन की प्रकृति को एक वाक्य में बडे मार्मिक ढ़ंग से रेखांकित किया है- **विसर्जन वही व्यक्ति कर सकता है जो कभी सोचता ही नहीं कि मैनें किसी को कुछ दिया है** (पृ. ७१)। वैदिक परम्परा के ग्रन्थ मनु-स्मृति (६.९२) में धर्म के दस लक्षण दिये गये है- **धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध।** दूसरी ओर जैन- परम्परा के सर्वमान्य ग्रन्थ समणसुत्त (गाथा ८४) में भी दस धर्म इस प्रकार गिनवाये गये हैं- **उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप त्याग, आकिंचन्य ओर ब्रह्मचर्य।** इन दोनों सूचियों पर ध्यान देने से क्या ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक परम्परा और जैन परम्परा में धर्म के विषय में कही कोई मतभेद है ? आचार्य तुलसी का कहना था **'धर्म को मैं निर्विशेषण देखना चाहता हूं। आज तक उसके पीछे जितने भी विशेषण लगे, उन्होंने मनुष्य को बांटने का ही प्रयत्न किया। इसलिए आज एक विशेषण रहित धर्म की आवश्यकता है, जो मानव-मानव को आपस में जोड़ सके। 'मानव'-यह विशेषण भी मैं**

विशेष उद्देश्य से प्रयुक्त करता हूं क्योंकि विशेष उपयोगिता मानव के लिए ही है(पृ. २३)।' 'अणुव्रत की लोकप्रियता का सबसे बड़ा कारण है उसकी असाम्प्रदायिकता। अणुव्रत की आचार संहिता किसी धर्म-विशेष की मान्यताओं से जकड़ी हुई नहीं है। सब धर्मों के प्रति सहिष्णुता इसका महत्त्वपूर्ण आदर्श है। एक दृष्टि से इसमें सब धर्मों का सार संक्षेप में सन्निहित है। यह सम्प्रदाय-परिवर्तन की नहीं, संस्कार-परिवर्तन की बात करता है। संस्कार परिवर्तन जीवन परिवर्तन है। धर्म की मौलिकता जीवन परिवर्तन की प्रक्रिया में है। इस मौलिकता को उजागर करना ही अणुव्रत का पवित्र उद्देश्य है। (पृ. २५)'

धार्मिक वै मनस्य को मिटाने के लिए १९५४ में एक पंचसूत्री योजना प्रस्तावित की गयी जो इस प्रकार है :-

१. **मंडनात्मक नीति बरती जाए। अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाए। दूसरों पर मौखिक या लिखित आक्षेप न किए जाएं।**
२. **दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णुता रखी जाए।**
३. **दूसरे सम्प्रदाय और उसके अनुयायियों के प्रति घृणा और तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाए।**
४. **कोई सम्प्रदाय-परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि आवांछनीय व्यवहार न किया जाए।**
५. **धर्म के मौलिक तथ्य-अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जीवन-व्यापी बनाने का सामूहिक प्रयत्न किया जाए। (पृ. ८०)**

समान नागरिक आचार संहिता: संविधान का भारतीयकरण

मुझे लगता है कि आज राष्ट्र को एक ऐसी आचार संहिता की आवश्यकता है जो केवल आन्तरिक रूप से ही गैर-सम्प्रदायिक न हो, बाह्य रूप से भी सम्प्रदाय-मुक्त हो। मेरी विनम्र सम्मति में तुलसी जन्म शताब्दी के अवसर पर हम तुलसी के अणुव्रत आन्दोलन को राष्ट्र को समर्पित कर दें और इस पर से तेरापंथ का एकाधिकार विसर्जित कर दें। हम प्रयत्न करें कि यह राष्ट्र एक ऐसी सर्व सम्मत नागरिक आचार संहिता का विकास करे जिसे हमारे संविधाान में Directive Principals के अन्तर्गत स्थान मिल सके। यदि ऐसा हो सके तो हम कह सकेंगे कि तुलसी जन्म शताब्दी वर्ष में अणुव्रत आन्दोलन की गंगा भारतीय संविधान के गङ्गासागर में जाकर विराट् हो गयी। भारतीय संविधान के निर्माण का महत्त्व डॉ. अम्बेडकर को दिया जाता है। उस संविधान के भारतीयकरण का महत्त्व आचार्य

तुलसी को जायेगा। इसके लिए अणुव्रत को संविधान की भाषा के अनुरूप ढालना होगा। यदि राजनेता उसे संविधान में शामिल करने को सहमत न भी हों तो कम से कम हम यह तो कह ही सकंगे कि आचार्य तुलसी का अवदान इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसे भारतीय संस्कृति का नवनीत कहा जा सकता है और हमारी माँग उसे संविधान में स्थान देने की है। कार्य कठिन है किन्तु करणीय है। इतना स्पष्ट है कि यदि अणुव्रत में से एक नागरिक आचार-संहिता निकालनी होगी तो उसकी सभी धारायें निषेध; परक नहीं हो सकती। अत: उसे आचार-संहिता ही कहा जा सकेगा, व्रत शब्द का उपयोग नहीं किया जा सकेगा। वस्तुत: आचार्य संहिता एक व्यापक अवधारणा है, व्रतचर्या उसका एक अङ्ग मात्र है। मेरा अभिप्राय यह है कि आचार्य तुलसी के अवदान आगे बढ़ाया जाये ताकि वह एक खड़ी झील न बन कर रह जाये प्रत्युत एक बहती नदी बने। आज अन्ना हजारे, बाबा रामदेव और केजरी वाल जैसे लोग अपने ढंग से वही कर रहे हैं जो आचार्य तुलसी ने अपने समय में किया- भ्रष्टाचार से मुक्ति का प्रयत्न।

आचार्य महाप्रज्ञ ने **तुलसीविचारदर्शन** नामक अपने ग्रन्थ में आचार्य तुलसी के प्रयत्न का तटस्थ भाव से मूल्याङ्कन किया है। उदाहरणत: वे कहते हैं कि अणुव्रत आन्दोलन ने एक सीमा तक जनसाधारण में नैतिक निष्ठा उत्पन्न की है, धर्मस्थान और कर्मस्थान की विसंगति की ओर भी हमारा ध्यान दिलाया है किन्तु सामाजिक समस्याओं का समाधान करने में सबसे कम सफ लता प्राप्त की है (तुलसी विचार दर्शन पृ.१६) यह गम्भीर चिन्तन का विषय है कि इस न्यूनता को कैसे दूर किया जायें।

प्रेक्षाध्यान: अणुव्रत का परिपूरक

अणुव्रत आन्दोलन एक सामाजिक आन्दोलन है। कोई सामाजिक आन्दोलन बिना आध्यात्मिक पृष्ठ भूमि के पूर्णत: सफ ल नहीं हो सकता। नैतिकता और अध्यात्म के संबंध में आचार्य तुलसी का कहना है **'अध्यात्म के बिना करु णा की चेतना जागृत नहीं होती और करु णा के बिना दूसरों के साथ नैतिकतापूर्ण व्यवहार करना संभव नहीं होता।' (पृ.९३)**परिणाम स्वरूप एक दूसरा आध्यात्मिक आन्दोलन हमारे सामने प्रेक्षाध्यान का आया जो विशुद्ध आध्यात्मिक तो था ही अणुव्रत के समान ही पंथ निरपेक्ष भी था। यह आन्दोलन व्यक्ति को अन्तर्मुख बनाने का उपक्रम है। बहिर्मुख व्यक्ति जिस सुख को टटोलता है वह ऐन्द्रिक है। उस सुख का साधन बाह्य पदार्थ है इन बाह्य पदार्थो का आक र्षण ऐसा है कि व्यक्ति भ्रष्टाचार में लिप्त हो जाता है । सुख का आकर्षण

स्वाभाविक है। इन्द्रियों से मिलने वाले सुख का विकल्प यदि न मिले भ्रष्टाचार से रु क पाना कठिन है। ऐन्द्रिक सुख का विकल्प आत्मिक सुख है। उस आत्मिक सुख का साधन प्रेक्षाध्यान है। इस प्रकार अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान एक दूसरे के परिपूरक बनते है। इसलिए आचार्य महाप्रज्ञ ने 'धर्मचक्र का प्रवर्तन' ग्रन्थ का प्रारम्भ ही इस वाक्य स किया-'**आचार्य श्री तुलसी का व्यक्तित्व विरोधी युगलों से जटिल व्यक्तित्व है। उसमें अनेकान्तवाद ने अपनी सार्थकता सिद्ध की है।**' (प्रस्तुति का प्रथम वाक्य) जो इस विराट् पुरुष को अपनी सङ्कीर्ण दृष्टि में समेट नहीं पाये उन्होंने '**अलोकसामान्यमचिन्त्यहेतुकं द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम्**' की कालिदासीय उक्ति को चरितार्थ करते हुए उनका विरोध भी किया। यह विरोध जितना बाहर से आया उतना ही अन्दर से भी आया(पृ.२८)। किन्तु हर विरोध ने आचार्य तुलसी की तेजस्विता को निखारा ही, जैसे अग्नि में तप कर कुन्दन निखरता है यह तथ्य आचार्य तुलसी की गहरी आध्यात्मिकता का परिणाम था जो उनकी समता से फलित हुआ- **समयाधम्मुदाहरे मुणी।** आचार्य तुलसी वास्तविक अर्थ में समण थे। समण शब्द की तीन व्युत्पत्तियाँ है- सम, शम, श्रम। आचार्य तुलसी इन तीनां अर्थो में सच्चे समण थे; उनके आचार में समता थी, व्यवहार में शम अर्थात शान्ति थी और प्रचार में श्रम था। कुछ लोगों के सामने उनका प्रचार पक्ष ही आया। वे उनके समता और शान्ति के पक्ष को नहीं समझ पाये। आचार्य तुलसी का व्यवहार मुखर था, परमार्थ मौन था। जो उनके मौन परमार्थ को न सुन पाये उन्होंने उन्हें समाज सुधारक ही समझाा। पर वे प्रारम्भ से अन्त तक आध्यात्मिक पुरुष ही थे। यह मैंने व्यक्तिगत रूप से उनके साथ घंटों घंटों एकान्त चर्चा करके पाया। वे जय-पराजय में समता रख सकते थे। उनके **अग्निपरीक्षा** ग्रन्थ के संबंध में जो घटना घटित हुई वह प्रसिद्ध है। न्यायालय के द्वारा इस ग्रन्थ को निर्दोष मान लिये जाने पर भी आचार्य तुलसी ने इस ग्रन्थ को इसलिए वापिस ले लिया कि इसे निमित बनाकर हिंसा न हो पाये। इसमं उन्होंने अपने अहंकार को आड़े नहीं आने दिया। एक ऐसी ही घटना गंगा शहर में तब घटी जब एक ही मार्ग से उनके नेतृत्व में उनके अनुयायियों को तथा एक दूसरे जैन आचार्य के नेतृत्व में उनके अनुयायियों को एक ही समय निकलने की बात आयी तो उन्होंने दूसरे जैन आचार्य के लिए मार्ग छोड़ते हुए दूसरा मार्ग अपना लिया। यह सब उनके अहंकार विसर्जन का व्यवहारिक रूप था।

धर्म और राजनीति

आचार्य तुलसी ने अपने संदेश को अधिक से अधिक व्यापक बनाने के लिए समाज के सभी वर्गों से सम्पर्क साधने में कृपणता नहीं दिखाई। वे **'णो हीणे णो अइरित्ते'** का अनुकरण करते हुए जितनी चिन्ता किसी राष्ट्रपति या प्रधानमन्त्री की करते थे उतनी ही चिन्ता किसी गुमनाम अनपढ़ ग्रामीण महिला की भी करते थे, जितना ध्यान किसी करोड़पति की ओर देते थे उतना ही ध्यान किसी गरीब की ओर भी देते थे। ऐसा समानता का व्यवहार आन्तरिक समता के बिना नहीं आ सकता।

वैदिक काल के अन्तिम चरण में भगवान् श्री कृष्ण ने गीता में एक कार्य यह किया था कि कर्म काण्ड को कर्म योग में बदल दिया था। कर्मकाण्ड का क्षेत्र और काल सीमित है। कर्मयोग में केवल अग्नि में आहुति देने जैसा कर्म ही समाविष्ट नहीं है, युद्ध जैसा दारुण कर्म भी सम्मिलित है। आचार्य तुलसी ने भी व्रतों को धर्म स्थान की चार दीवारी से बाहर निकाल कर बाजार में दुकान तक ही नहीं राजनीति में चुनाव तक लाकर खड़ा कर दिया। राजनीति में प्राच्य विद्या का यह नया प्रवेश है जब चुनाव में प्रत्याक्षी से यह व्रत लेने के लिए कहा गया कि:-

- मैं प्रलोभन और भयसे मत प्राप्त नहीं करूंगा।
- मैं प्रतिपक्षी प्रत्याक्षी का चरित्र हनन नहीं करूंगा।
- मैं मतदान और मतगणना के समय अवैध तरीको को काम में नहीं लूंगा।

(पृ. २०२)

कुछ लोगों को लग सकता है कि आचार्य तुलसी राजनीति में घुसपैठ कर रहें हैं। आचार्य तुलसी ने कहा **'धर्म और राजनीति की दो भाषाएं अलग-अलग हैं। यह बात स्पष्ट है। दोनों का उद्देश्य भी नितान्त भिन्न है। फिर भी कुछ बिन्दु ऐसे हैं, जिन पर दोनों की सहमति हो सकती है। दो भिन्न रास्तों के राही भी किसी चौराहे पर आकर मिलते हैं और वहां से फिर अपना अलग रास्ता चुन लेते हैं। ये दोनों ही धारायें अपने-अपने ढंग से जन आकांक्षा के अनुरूप धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं का संतोषजनक समाधान खोजने में तत्पर हैं। इस बात को ध्यान में रखकर यह कहा जा सकता है-**

- **धर्म जीवन और व्यक्तित्व के रूपान्तरण की प्रक्रिया है। राजनीति राज्य को सही दिशा में ले चलने वाली नीति है-**

- **वह धर्म सफल होता है, जो धार्मिक को आत्मानुशासी बनने की दिशा देता है, ऊपर के नियम और अनुशाससन को कम से कम करता है और एक दिन उसे पूरी तरह से आत्मानुशासित बना देता है।**
  उस राजनीति को अच्छा माना जाता है, जो राज्य को कम से कम कानूनों के घेरे में रखती है, राष्ट्र के नागरिक को स्वच्छ प्रशासन और वातावरण देती है। जिससे वह निश्चिन्तता और ईमानदारी के साथ जीवन यापन कर सके।' (पृ. १०३)
- **धर्म का काम है, मनुष्य को अनीति से बचाए रखना, उसकी समस्याओं का समाधान करना।**

राजनीति पर भी दायित्व होता है कि वह देश में बढ़ रही हिंसा, आतकंवाद, भ्रष्टाचार, असुरक्षा जैसी समस्याओं से निपटकर नागरिक की नीतिनिष्ठ बने रहने में योग दे।

- **धर्म के क्षेत्र में अहिंसा का वर्चस्व है। वहां बड़ी से बड़ी समस्या का समाधान अहिंसा को सामने रखकर सोचा जाता है।**

राजनीति में बल प्रयोग भी होता है। क्योंकि उसमें सैन्य बल, शस्त्र बल आदि के उपयोग पर कोई प्रतिबंध नहीं है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि बल प्रयोग के बिना राजनीति चल ही नहीं सकती। गांधी जी ने अहिंसा की शक्ति से भारत की स्वतंत्रता प्राप्त कर एक नया आदर्श उपस्थित किया था।

- **धर्म के क्षेत्र में सत्ता नाम की कोई चीज नहीं है, इसलिए उसे हथियाने के लिए छल, कपट, वंचना आदि हथियारों के उपयोग की भी जरूरत नहीं होती।**

राजनीति में साम, दाम, दण्ड, भेद सभी का प्रयाग होता है। फिर भी वह सत्ता के पाने या उसकी सुरक्षा के लिए निम्न स्तर के उपायों को काम में लेने का पक्ष नहीं लेती । सेवाभाव से कर्म करने की प्रेरणा देना अच्छी राजनीति का काम है। (पृ. १०४)' किन्तु आचार्य तुलसी का पूरा जीवन साक्षी ह कि उन्होंने राजनीति को दिया ही, राजनीति से कभी कुछ लिया नहीं। यही उनका ब्रह्मर्षित्व है। ब्रह्मर्षि सदा राजर्षियों का मार्ग दर्शन करते रहे हैं। महात्मा गाँधी ने राजनेताओं का मार्गदर्शन किया। उनके बाद आचार्य तुलसी ने राजनेताओं को रास्ता दिखाया। विशेष बात यह है कि आचार्य तुलसी से मार्ग दर्शन लेने वालों में, कांग्रेस हो या भाजपा या अन्य कोई दल, सभी शीर्षस्थ नेता शामिल है। पूर्व राष्ट्रपति डॉ० ऐ.पी.जे. कलाम तो उनके साथ इतने घनिष्ट सम्पर्क में आये कि उन्होंने उनक साथ

मिलकर एक ग्रन्थ भी लिखा। एक वाक्य में कहें तो आचार्य तुलसी ने धर्म और अध्यात्म को इतने व्यापक अर्थों में लिया कि उससे व्यापार और राजनीति जैसे लौकिक समझे जाने वाले क्षेत्र भी अछूते नहीं रहे।

आचार्य तुलसी का विद्या वैभवः शिक्षा के क्षेत्र में योगदान

आचार्य तुलसी ने अपना जीवन प्राच्य विद्या के, और विशेष कर जैन विद्या के, गम्भीर अध्ययन से प्रारम्भ किया। आचार्य पद पर आते आते तक उन्होंने १८ हजार श्लोक कण्ठस्थ कर लिये थे। यह एक ऐसी दुर्लभ सारस्वत सम्पदा थी कि जिस के बल पर आचार्य तुलसी जैन –अजैन दोनों प्रकार की विद्या–परिषदों में असाधारण सम्मान पाते रहे। इसी सम्पदा के बल पर उन्होंने अपनी प्रौढ अवस्था में जैन आगमों के सम्पादन तथा विश्लेषण का बृहत्काय कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न किया । इसी सम्पदा के बल पर वे जीवन भर संघ के साधु साध्वियों को अध्यापन कराते रहे जिसके फलस्वरूप तेरापन्थ जैन संघ में अनेक ऐसे साधु साध्वी तथा समणी निकले जिनकी शैक्षणिक उपलब्धि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की है। आचार्य महाप्रज्ञ आचार्य तुलसी को अपना शिक्षा–गुरुमानते थे और उनके परम्परागत तथा आधुनिक वैदुष्य की धाक वाराणसी से लेकर पुणे तक फैल गयी थी। वस्तुतः आचार्य तुलसी तथा उनके शिष्य साधु प्रारम्भ में अपने पाण्डित्य के लिये ही प्रख्यात थे, सामाजिक क्षेत्र में उनका पर्दापण बाद में हुआ। आचार्य तुलसी के व्यक्तित्व के निर्माण में प्रथम घटक प्राच्यविद्या तथा जैन विद्या ही है। इसी का प्रतिफलन इस रूप में हुआ कि लाडनूँ में विश्व का प्रथम जैन विश्वविद्यालय स्थापित हुआ तो वे उसके प्रथम अनुशास्ता बने। आज इस विश्व विद्यालय के अध्यापक तथा छात्र पटियाला से वाराणसी तक जैन विद्या का अध्यापन तथा अनुसन्धान कर रहे हैं। भारत या भारत से बाहर कहीं भी प्राच्य विद्या तथा विशेषकर जैन विद्या का कोई उपक्रम हो तो इस विश्वविद्यालय की उपस्थिति वहाँ अग्रणी रूप में रहती है। इस विश्वविद्यालय की कोई अध्यापिका समणी जब अत्यन्त सुव्यवस्थित ढंग से विदेश में अपने विषय का प्रतिपादन करती है तो भवभूति की यह पंक्ति अनायास याद आ जाती है कि गुणियों में अवस्था या लिङ्ग की नहीं अपितु गुणों की पूजा होती है– **गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः**। यह सब आचार्य तुलसी का विद्या–वैभव है।

उपसंहार

संक्षेप में आचार्य तुलसी ने व्यवहार के लिए अणुव्रत और परमार्थ के लिए प्रेक्षाध्यान देकर व्यवहार और परामार्थ को जोड़ने का भारतीय संस्कृति को एक व्यवहारिक योगदान दिया। जिसका क्रियात्मक रूप जीवन विज्ञान के रूप में हमारे सामने आया। उन्होंने दान के सात्विक रूप को विसर्जन के नाम से स्थापित किया ताकि समाज का लोक कल्याणकारी रूप तो चले किन्तु उसके चलाने वालों में अहंकार का भाव न आये। उन्होंने गृहस्थ और साधु के बीच की एक समण श्रेणो का प्रवर्तन किया जो साधना के साथ-साथ विद्या के क्षेत्र में विशेष प्रगति कर सके।

तुलसी जन्म शताब्दी वर्ष के लिए प्रस्तावित कार्य योजना

तुलसी जन्म शताब्दी में हमें देखना है कि अणुव्रत को किस प्रकार समान नागरिक आचार- संहिता बनाकर राष्ट्रीय और संवैधानिक रूप दे दिया जाये। जैन विश्वभारतीसंस्थान को एक अन्तर्राष्ट्रिय स्तर के विश्व विद्यालय बनाने के लिए प्रयत्न किया जाना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है की सभी त्यागी वर्ग, विशेषकर समणश्रेणी, अपने विद्यानुशीलन के क्षेत्र को व्यापक बनाये। उदाहरणत: समणियों में कुछ बौद्ध दर्शन की विशेषज्ञता प्राप्त करें, कुछ वैदिक दर्शनों में निपुणता प्राप्त करें, कुछ पाश्चात्य दर्शन का विशेष अनुशीलन करें। इसी प्रकार ईसाई धर्म और इस्लाम जैसे धर्मों की भी विशेषज्ञ कुछ समणी हो सकती है। भाषा की दृष्टि से भारत की, विशेषकर दक्षिण भारत की, भाषाओं की जानकार और जर्मन, फ्रैंच जैसी विदेशी भाषाओं की जानकार समणियां यदि होंगी तो जैन विद्या का प्रचार उसी प्रकार व्यापक हो सकेगा जैसा व्यापक ईसाई धर्म का प्रचार है। ईसाई धर्म के प्रचारक जिस प्रदेश में जाते है उस प्रदेश की भाषा पर अधिकार प्राप्त कर लेते है। वे जिन धर्म के अनुयायियों में जाते है उस धर्म की भी पूरी जानकारी रखते है। कोई कारण नहीं है की हम ऐसा न कर सकें। ऐसे कार्य के लिए आचार्य तुलसी का अवदान जैन विश्वभारतीसंस्थान के रूप में हमारे सामने है ही। निश्चय ही यह कार्य साम्प्रदायिक भावना से नहीं परन्तु प्राणिमात्र के कल्याण की भावना से होना चाहिए। आचार्य तुलसी का हमारे लिए यही सन्देश है। हम अपने-अपने सम्प्रदाय के नियमों का पूर्ण कठोरता से पालन करते हुए भी समाज में न केवल दूसरों के बीच प्रेम और सद्भाव रख सकते हैं, प्रत्युत धर्म के सर्वभौम सिद्धान्तों के पालन द्वारा एक दूसरे के अभ्युदय और नि:श्रेयस में सहायक भी हो सकते है। इसी प्रवृत्ति को आचार्य तुलसी ने मानव धर्म कहा है।

ओ३म्

शान्ति पथ प्रदर्शन :एक सम्मति

(डॉ. दयानन्द भार्गव एम.ए. संस्कृत विभागाध्यक्ष रामजस कॉलेज दिल्ली)

मिट्टो की बहुत महिमा है। प्रत्यक्षत: मिट्टो से ही हमारा जन्म होता है, मिट्टो में हमारी स्थिति है तथा मिट्टो में ही हम अन्तत: विलीन हो जाते हैं। ऐसा आभास होता है मानों मिट्टो ही हम सबकी परम प्रतिष्ठा है। परन्तु परमार्थत: मिट्टो स्वाश्रित नहीं, जलाश्रित है। न जल ही स्वाश्रित है, जल अग्निपर, अग्नि वायुपर तथा वायु आकाश पर प्रतिष्ठित हैं। तो क्या आकाश ही परम प्रतिष्ठा है? क्या सब प्राणी अन्तत: आकाश में विलय हो जाते हैं? आभासत: ऐसा ही प्रतीत होता हैं, परन्तु परमार्थत: आकाश स्वप्रतिष्ठ नहीं है, वह भी ज्ञानालोकपर प्रतिष्ठित है। इस ज्ञानालोक से ही लोकालोक आलोकित हैं। इस ज्ञानालोक को ही हम सब 'मैं' की संज्ञा देते हैं। यह 'मैं' अथवा आत्मतत्त्व स्वयं प्रकाश हैं, स्वप्रतिष्ठ है।

मेरे मानस में अहर्निश प्रवर्तमान संकल्प-विकल्प सब इसी आत्म-प्रकाश के रूपान्तर हैं। संसार के समस्त जड़-चेतन पदार्थान्तर सब इसी आत्मा के निमित्त ही तो मुझे प्रिय हैं।

कितना शान्त एवं सौम्य है मेरा यह चिद्रूप? तनिक अपने मानस में झाँककर देखूँ। अहो ! कैसा अनोखा संसार बस रहा है मेरे अन्तर में? मेरे मानस के माँसल कूल (सुदृढ़ किनारे) को विचारों की लहर पर लहर चाटे जा रही है। यह राग, यह द्वेष, यह क्रोध, यह करूणा, यह शत्रुता, यह मैत्री, यह उत्साह। अद्भत भावों के सतरङ्गो इन्द्रधनुष मेरे मानसाम्बर में निकले रहते हैं। विचार-वीचिपर विचार-वीचि चली आ रही हैं। क्या एक क्षण के लिए इनकी गति को अवरूद्ध नहीं किया जा सकता? क्या मैं इन विचार-वीचियों का प्रवर्त्तक ही हूँ, नियन्ता नहीं हूं? अहो ! मानव की असहायता !! इष्टानिष्ट, हिताहित एवं प्रियाप्रिय, जैसे-कैसे भी विचार उसे जिस ओर भी धकेलते हैं वह बेबस उसी ओर चाहे-अनचाहे चल देता है।

विचार-वीचि आती है और लौट जाती है, परन्तु वह खाली आती है और न खाली लौटती है। वह अपने साथ कुछ नवीन रजकण लेकर आती है और कुछ पुराने रजकण बहा ले जाती है। व्यष्टि रूप में रजकण बदलते रहते हैं, परन्तु समष्टि रूप में रजकणों की वह परत सदा बनी रहती है। क्या इन रजकणों की मोटी तहके

नीचे दबा हुआ आपके मानस का कोमल धरातल कभी इनके भार से छटपटाया है?

ये रजकण नवीन विचार-वीचियों के लिए चुम्बक का काम करते हैं। इन रजकणों की चिर-पिपासा को मानो विचार-वीचियाँ ही शान्त कर सकती हैं। तथा वे विचार-वीचियाँ इनके निमन्त्रण पर आपके सब निमन्त्रणों को विफल बनाकर उछलती-कूदती नित्य नूतन रजकणों सहित आपके मानस में उतर जाती हैं। जिन रजकणों को ये वीचियाँ मानस के धरातर पर छोड़ जाती हैं वे रजकण पुनः नूतन वीचियों को बुला लेते हैं। और यह कम सदा चलता रहता है।

मेरे अन्तर्मन का यह इतिहास कितना रोचक है? परन्तु इस इतिहास के उर में छिपी हुई एक कसक है, एक टीस है । विचार-वीचियों के निरन्तर नर्तन ने मेरे एक दुःखद ममता, एक रागात्मक भावना उत्पन्न कर दी है। वह ममता धन, पुत्र, कीर्ति और न जाने अन्य किन-किन पदार्थों में व्याप्त हो गई है। सांस उखड़ा हुआ है, होश गुम है, किन्तु फिर भी यह ममता-माया मुझे बेबस दोड़ा रही है। लक्ष्य अज्ञात है, केवल गतानुगतिक-न्याय से दौड़ रहा हूँ। इस दौड़ में जो रूके वह पागल है, जो आपसे रूकने को कहे वह मूर्ख है, जो दौड़ इसे पृथक् होकर एक किनारे पर खड़ा होकर शान्त-भाव से दौड़ को केवल देख रहा है वह निठल्ला है। इनकी ओर ध्यान दिए बिना केवल दौड़ते रहो। स्वेद आये तो पौंछ लो, अश्रु आयें तो रोक लो, ठोकर लगे, रक्त बहे तो पट्टो बांध लो, परन्तु बिना यह पूछे कि जाना कहां है बस केवल दौड़ते रहो।

इस दौड़ कोदेखकर हंसना भी आता है और रोना भी। यों तो इस दौड़ में बहुत रस है, आकर्षण है। किन्तु क्या आपके जीवन में ऐसे क्षण भी आये हैं जब यह आभास हुआ हो कि यह दौड़ निरर्थक है, निरी मूर्खता है, कोरी मृगतृष्णा है। इस दौड़ में ठोकर खाने पर या किसी अन्य दौड़ने वाले से टकरा जाने पर क्या झनझना कर आपके मन ने कभी यह भी कहा है कि इस दौड़ से दूर हट जायें तो अच्छा है?

किन्तु इस दौड़ से दूर हटना क्या सरल है? कुछ समय के लिए बाह्य दौड़-धूप से बलात् निग्रह कर भी लिया जाये ता भी आन्तरिक द्वन्द्व तो रूकता नहीं । यह भी स्पष्ट ही है कि वास्तविक समस्या तो यह आन्तरिक द्वन्द्व ही है, बाह्य दौड़-धूप तो उस आन्तरिक द्वन्द्व की प्रतीक मात्र है। इस आन्तरिक द्वन्द्व को नियन्त्रित करना संसार का कठिनतम तथा कठोरतम साधन-साध्यकार्य है।

इन कठोर साधनों की सिद्धि के लिए ऐसा सुदृढ़ साधक अपेक्षित है, जो राग-द्वेष के ज्वारभाटों में शिला के समान अडिग रहे, तनिक भी विचलित न हो।

और इस सबके विनिमय में उसे क्या प्राप्त होता है ? कुछ नहीं और सब कुछ। इस दौड़-धूप का अवसान हो जाता है, रज क्षीण हो जाता है, तथा उस एकात्मरस चिदानन्द आनन्दघनैकरस शुद्ध बुद्ध निजस्वरूप की उपलब्धि हो जाती है जिसे प्राप्त करके प्राणी कृतकृत्य हो जाता है। उस अवाङ्मनसगोचर प्रपञ्चोशम अद्वैत दशाका, शेष भो अशेषत: वर्णन करने में अशक्त है, अस्मदादि अकिञ्चन प्राकृत जनों की तो कथा ही क्या है ?

कदाचित् यह दौड़ एकान्तत: समाप्त न भी हो, तो भी साधक की दौड़ में नियमितता तो आ ही जाती है। वह दौड़ते हुए भी विवेक नहीं खो बैठता। दौड़ते हुए भी वह यथासम्भव न किसी को ठोकर मारता है, एवं फलस्वरूप न किसी की ठोकर खाता है। वह दौड़ते हुए भी नही दौड़ता । उसकी दौड़ का भी अन्त निकटवर्ती ही समझना चाहिए।

वाष्कलि मुनिने बाध्व से आत्मा का स्वरूप पूछा। बाध्व ने कहा, ''ब्रह्म का स्वरूप सुनो''। यह कहकर बाध्व मौन हो गए। वाष्कलि ने कहा, ''भगवन्! आप मौन क्यों हैं ? आत्मा का स्वरूप बताईये न ? '' बाध्व फिर भी मौन रहे। वाष्कलि ने कहा, ''भगवन ! आप ब्रह्म का स्वरूप क्यों नही बतलाते ? '' बाध्व बोले, ''मै तो ब्रह्म का स्वरूप बतला रहा हूँ, किन्तु तू नहीं समझता। यह आत्मा उपशान्त है।''

ऐसी शब्दातीत उपशान्त आत्मा का वर्णन इस शान्ति पथ-प्रदर्शन में है। पन्द्रह वर्ष पूर्व स्टेशनों पर पीने के पानी पर 'हिन्दु -पानी' और 'मुस्लिम-पानी' लिखा रहा करता था। अब केवल 'पीने का पानी' लिखा रहता है। सैभाग्य से अब हम यह समझने लगे हैं कि पानी हिन्दू या मुस्लिम नहीं होता, वह 'पीने के लिए' होता है। क्या कभी मानव जाति यह भी समझेगी कि धर्म हिन्दू या मुस्लिम, जैन या बौद्ध अथवा ईसाई और यहूदी नहीं होता, वह तो वस्तु के स्वभाव का नाम है ? यदि कभी ऐसे सहज मानव धर्म की नींव पड़ेगी, तो प्रस्तुत ग्रन्थ-रत्न उस नींव में सुदृढ़ पाषाण का स्थान ग्रहण करेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

मुझे पुस्तक के प्रणेता के मुखारविन्द से इन प्रवचनों के अमृतपान का सौभाग्य मिला है। लेखक के क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण करने के अवसर पर एक पत्र में , इन प्रवचनों की जो प्रतिक्रिया मुझ पर हुई वह मैंने श्लोकबद्ध करके लेखक की सेवा में प्रेषित की थी। उसी पत्र के अन्तिम अंश के कतिपय श्लोक उद्धृत करते हुए मैं अपनो लेखनी को विश्राम देता हूँ। पण्डित रूपचन्द जी गार्गीय के आग्रह पर मूल संस्कृत का पञ्च चामर-छन्द में हिन्दी पद्यानुवाद भी दे रहा हूँ। श्लोक संख्या में

आठ हैं तथा प्रत्येक श्लोक के अन्तिम चरण में सोऽहम् महावाक्य आता है, अतः चाहें तो इसे सोऽहमष्टक भी कह सकते है:-

(सोऽहम् अष्टक)

आपापविद्धो य इति प्रसिद्धः, स्वयं स्वकीयैर्नियमैर्निबत्रद्धः।
सिद्धः प्रबुद्ध सततं विशुद्धः, सोऽहं न पापे करवाणि बुद्धिम् ।। १
ज्ञानानि सर्वाणि यदाश्रितानि, ज्ञाने च यस्या सफलानि खानि।
सर्वाणि शास्त्राणि च चत्पराणि, सोऽहं न पापे करवाणि वाणीम्।।२।।
अध्यात्मशास्त्राणि चिदात्मकं यं,सुखात्मरूपं परमात्मसंज्ञम्।
देहादिभिन्नं शिवमाहुरेनं, सोऽहं न पापे करवाणि देहम्।।३।।
जन्मादिहेतुः जगतः परन्तु, संसारपाथोनिधिपारसेतुः।
विमोक्षदेवालयतुङ्गकेतुः, सोऽहं परंब्रह्म निरञ्जनोऽस्मि।।४।।
'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू'-'रणोरणीयान् महतो महीयान्।'
भान्तं यमेवानुविभाति सर्व, स ज्योतिषां ज्योतिरहं विधूमः।।५।।
यथा स्वपुत्रं परिचुम्ब्य माता, न वेत्ति किञ्चिद्धि सुखातिरिक्तम्।
नान्तर्विपश्यन्न बहिर्न चोभौ, सोऽहं तथानन्दसमुद्रलीनः।।६।।
आनन्द-चैतन्यविलासरूपं, क्रियाकलापादिकसाक्षिणं यन्।
जानामि नित्यं हृदये विभान्तं, सोऽहं स्वयं ज्ञानघनप्रकाशः ।।७।।
येन स्वयं सा निरमायि माया, तथा च लीलामनुसृत्य बद्धः।
वेदोऽपि जानाति न यस्य भेदं, मायापतिः सोऽहमचिन्त्यरूपः।।८।।

(पञ्च चामर छन्द)

अपापबिद्ध जो प्रसिद्ध, शुद्ध बुद्ध सिद्ध हैं,
स्वयं स्वकीय-पाक्षसे निबद्ध भी स्वतन्त्र है।
प्रसिद्ध शास्त्र में सुखात्म-रूप ज्ञानकी प्रभा,
विदेह-रूप कौन है ? अहो, यही स्वयम् 'अहम'।।

अशेष-विदे-शास्त्र नित्य कीर्ति को बखानते,
न इन्द्रियादि-गम्य जो समस्त-ज्ञान मूल है।
गिरा-शरीर-बुद्धि की मलीनता-विहीन है,
समस्त-शास्त्र-सार-भूत है यही स्वयम् 'अहम'।।

प्रपञ्च -हेतु भी यही, प्रपञ्च-सेतु भी यही,

विमोक्ष-देव-मन्दिरोच्च-भव्यकेतु भी यही।
यही महान से महान, सूक्ष्म से ऽतिसूक्ष्म है,
कवीन्द्र, प्राज्ञ, सर्वभू, विधूम-ज्योति है यही।।

यथा स्वकीय-पुत्र का विशाल भाल चूमती,
न जन्मदा स्व-देहको, न अन्य वस्तु जानती।
तथा प्रमोद के पयोधि की तरंग में रंगा-
हुआ 'अहं' न ब्राह्य को, न अन्त को विलोकता।।

निजात्म-जन्म-हेतु, यह समस्त लोककी प्रभा,
धन-प्रकाश-रूप, चित्स्वरूप, रूप के बिना।
क्रिया-कलाप-साक्षिभूत, चिद्विलास-रूपिणी,
प्रमोद की परा स्थली, अहो यही स्वयम् 'अहम्'।।

न वेद भ अभेद्य भेद जानता परेशका,
कभी यहाँ कभी वहाँ, कभी कहीं कभी कहीं-
बना स्वयं विशाल एक जाल खेल खेलता,
परन्तु जो कि वस्तुतः विमुक्त है, स्वतन्त्र है।।

इति शम्

महावीर मेरी दृष्टि में: सम्पादकीय

प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना के मूल प्रेरणा-स्रोत श्री सुन्दरलाल जैन, प्रोप्रा-इटर मैसर्स मोतीलाल बनारसीदास हैं। वे धर्म में बहुत रूचि रखते हैं। सत्य की खोज की लगन उनमें बहुत पुरानी है। महावीर और उनके सन्देश को जानने की उनमें उत्कट जिज्ञासा रही है। संसार के सम्मुख महावीर के संदेश को प्रस्तुत करने का उनका आन्तरिक सङ्कल्प रहा है। इस आशय स उन्होनें अनेक प्रयत्न किये किन्तु सफलता न मिली। किन्तु उनका सङ्कल्प सत्य था क्योंकि वह अन्ततः फलवान् बना । महावीर का मार्ग, जिसे काल ने धूमिल कर दिया था। पुनः आलोकित हुआ रजनीश की उस रश्मि से जो इस ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित हो रहो है।

सितम्बर का मास था। श्री सुन्दरलाल जी का आग्रह स्वीकार करके आचार्य रजनीश श्रीनगर मेंडल झील के किनारे चश्मे-शाही पर उपस्थित थे। गिने चुने लोग उनके श्रोता थे। महावीर पर प्रवचन होते थे और प्रश्नोत्तर चलते थे। वही यहां प्रस्तुत हैं। जो आचार्य रजनीश के सम्पर्क में आये हैं उन्हें ज्ञात है कि उनके अस्तित्व में ही एक सुगन्ध है । उनका जीवन सहजता की मूर्त्ति है, उनके विचार निर्विचारता में ले जाने का द्वार हैं। उनकी वाणी निरन्तर उस ओर इङ्गित करती है जो वाणी से परे है। उनका स्पर्श मानों अपना ही स्पर्श है।

आचार्य जी की दृष्टि में महावीर को जानने का एक ही उपाय है- सीधा और सरल, जिसमें न शास्त्र की जरूरत है, न सिद्धान्त की, न गुरू की। इसमें न कोई साथी है, न कोई संगी है। अकेले की उड़ान है अकेले की तरफ। बीच में कोई भी नहीं। जरा भी बीच में ले लेते हैं किसी को तो भटकन शुरू हो जाती है।

यह प्रेम का मार्ग है। प्रेम में कोई शर्त नहीं होती, कोई पूर्वाग्रह नहीं होता अतः हम प्रेम के मार्ग से महावीर को जान सकते हैं। जानना मुश्किल नहीं है क्योंकि उनके अनुभव की सूक्ष्म तरंगे, सूक्ष्म आकाश में, अस्तित्व की गहराइयों पर आज भी सुरक्षित हैं और अगर हम प्रेमभरे चित्त से महावीर का पूर्ण ध्यान लेकर इन गहराइयों पर उतरें तो हमारे लिए वे द्वार खुल जाते हैं जहां वे सूक्ष्म तरंगे हमें उपलब्ध हो जाएं। उधर अशरीरी आत्माएं भी प्रेमवश, करूणावश हमारी आत्मा से सम्बन्ध खोजने को आतुर हैं, उत्सुक है। मन्दिरों में महापुरुषों की जो अचेतन प्रतिमाएं प्रतिष्ठित हैं वे भी उनकी अशरीरी आत्माओं से हमारा संपर्क कराने का ही साधन हैं।

आचार्य जी व्यक्ति को किसी से नहीं बांधना चाहते है। जीवन में जो मूल्यवान् है वह स्वयं उपलब्ध करना होता है, यही उसकी मूल्यवत्ता है। यदि वह दूसरे से प्राप्त किया जा सके तो वह मूल्यवान् नहीं रह जायेगा। सत्य स्वयं में निहित है जिसे उघड़ना है; वह न किसी से लिया जा सकता है, न किसी को दिया जा सकता है। जो सत्य पाने की आशा में किसी के आश्रित हो गये हैं उनकी मुक्ति कैसे सम्भव है ?

यह कृति न तो इतिहास ग्रन्थ है न शोध ग्रन्थ । इतिहास अतीत की घटनाओं का संकलन है, शोध दिये गये तथ्यों का विश्लेषण है। इसमें ये दोनों नहीं है। इस ग्रन्थ में आचार्य जी ने योग के बल पर अतीत की कुछ घटनाओं से अपना तादात्म्य स्थापित करके उन घटनाओं क तथ्यों में निहित कुछ ऐसे सत्यों का उद्घाटन किया है जो त्रैकालिक हैं। वे अतीत की मृत घटनाओं के सम्बन्ध में उत्सुक नहीं है; उनकी उत्सुकता उन घटनाओं में छिपे उन रहस्यों का उद्घाटन करने में है जिन रहस्यों के कारण वे घटनाएं मानवमात्र के लिए मूल्यवान् हैं। महावीर के जीवन से सम्बद्ध ऐसी अनेक घटनाओं का रहस्य इस ग्रन्थ में प्रथम बार उद्घाटित हुआ है जिनके कारण उन घटनाओं का नया अर्थ प्राप्त हो गया है। इन रहस्यों के बिना वे घटनाएं आज के युग में अविश्वसनीय मिथ मात्र बन कर रह गई थीं। आचार्य जी की व्याख्या से महावीर के जीवन की वे घटनाएं मानों हमारे अपने ही जीवन की सम्भावित घटनाएं बन गई हैं।

इस ग्रन्थ की अर्थवत्ता न तो इसमें है कि हम जो आचार्यजी ने कहा है उस पर विश्वास कर लें और न तर्क-वितर्क द्वारा इस ग्रन्थ का खण्डन करने से ही किसी का कोई प्रयोजन सिद्ध होगा। यह ग्रंथ शास्त्र नहीं है। इस पर एकेडेमिक चर्चा नितान्त व्यर्थ है। इस ग्रंथ का एक मात्र प्रयोजन यह है कि पाठक स्वयं साधना में उतर जायें।

आचार्य जी के दृष्टिकोण में तीन बातें महत्वपूर्ण हैं। प्रथम तो उनका दृष्टिकोण नैतिक नहीं, अतिनैतिक है। यह दृष्टि मूलतः जैन शास्त्रों की दृष्टि है। उनमें पाप और पुण्य दोनों को लोहे और सोने की श्रृंखला माना गया है। दूसरे आचार्यजी ने दर्शन को ही महत्त्वपूर्ण माना है; चरित्र को दर्शन का सहज प्रतिफल माना है। यह दृष्टि भी जैन शास्त्रों की मूल दृष्टि है। जैन शास्त्रों में सम्यग् दृष्टि के अभाव में अच्छे से अच्छे कर्म को भी निरर्थक माना गया है। सम्यग् दृष्टि के बिना,

आचरण ऊपर से ओढ़ा जा सकता है किन्तु वह पाखंड है। वास्तविक आचरण सम्यग् दर्शन में स्वत: प्रस्फुटित होता है। वस्तुत: सम्यग्-दृष्टि जो करता है वही सम्यक् चारित्र है; यह कहना सत्य नहीं होगा कि सम्यग्-दृष्टि सम्यक् चारित्र का पालन करता है। सूर्य पूर्व में उदित नहीं होता बल्कि जिधर सूर्य उदित होता है उस दिशा को हम पूर्व दिशा कहते हैं। आचार्य जी के इस ग्रंथ की तीसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि महावीर के जीवन के सम्बन्ध में जो साम्प्रदायिक मतभेद थे उनका इसमें निराकरण हो गया है। जिन्होंने तथ्य को देखा उन्होंने यह पाया कि महावीर विवाहित और पुत्रीवान् हैं। किन्तु जिनकी दृष्टि सत्य पर गई उन्होंने पाया कि वे अविवाहित हैं । विवाह उनका हुआ, यह एक घटना है; किन्तु साक्षिभाव के कारण वे विवाह करते हुए भी अविवाहित रहे, यह एक दार्शनिक सत्य है।

आचार्य जी ने तर्कसंगत होने का आग्रह नहीं किया है। तर्क विरोध को स्वीकार नहीं करता, किन्तु जीवन विरोधी तत्त्वों से ही बना है- इसलिए जीवन तर्क की पकड़ से चूक जाता है। अत: जीवन का सत्य तर्क में नहीं, तर्क से परे है। आचार्य जी की यह दृष्टि भी जैन शास्त्रों से मेल खाती है जिनका कहना है कि सत्य वहां है जहां से सब शब्द लौट आते हैं जहां तर्क नहीं जा सकता और न जहां बुद्धि की पहुंच है- **सव्वे सरा णियट्टंति, तक्का जत्थ न विज्जति। मति तत्य न गाहिता (आचाराङ्ग)।**

आचार्यजी की दृष्टि में महावीर न परिग्रही हैं, न पलायनवादी हैं। उन्होनें घर छोड़ा जो घर नहीं था। एक सपना था जो टूट गया। भोग और त्योग दोनों सपने हैं जो द्रष्टा हो जाने पर बिदा हो जाते हैं। महावीर जब द्रष्टा हुए तब न भोग रहा, न त्याग रहा। राग-विराग, सुख-दुख न रहे। वह निर्द्वन्द्व हो गए। लेकिन अनुयायियों ने सोचा कि वह महात्यागी थे क्योंकि उन्होने जीवन के साथी त्यागे, घर त्यागा, सम्पत्ति त्यागी। मगर सही अर्थों में उन्होंने कुछ भी नहीं त्यगा क्योंकि उन्होंने कुछ भोगा ही नहीं। सिर्फ भोगी ही त्याग कर सकता है। भोग और त्याग, राग और विराग एक ही तराजू के दो पलड़े हैं। दोनों पर तोल हो सकता हैं। पर महावीर तराजू से उतर गए, वीतराग हो गए। फिर उनक तोल का सवाल ही नहीं उठता।

महावीर निश्चित ही नग्न रहे, इसमें कोई विकल्प नहीं है। उनकी काया को देखकर लगता है कि ऐसी सुन्दर काया वाला कोई व्यक्ति नहीं हुआ। ऐसी सुन्दर काया न बुद्ध के पास थी, न जीसस के पास थी और लगता है कि इतना सुन्दर

होने की वजह से ही वह नग्न खड़े हो सके। असल में नग्नता को छिपाना कुरूपता को छिपाना है। हम सिर्फ उन्हीं अङ्गों को छिपाते हैं जो कुरूप हैं। महावीर इतने सुन्दर थे कि छिपाने को कुछ भी नहीं था।

उनकी नग्नता उनके ज्ञान का अंग थी, उनके चरित्र का अंग नहीं थी। अगर किसी व्यक्ति को विस्तीर्ण ब्रह्माण्ड से, मूक जगत से सम्बन्धित होना है तो वस्त्र एक बाधा है। जितने ज्यादा वस्त्र पैदा होते जा रहे हैं उतनी ज्यादा बाधाएँ बढ़ती जा रही हैं। नवीनतम वस्त्र चारों तरफ के वातारवरण से शरीर को तोड़ देते हैं। जिस व्यक्ति को ब्रह्माण्ड से संयुक्त होना है, जड़ के साथ भी तादात्म्य स्थापित करना है, पशु जगत को भी सन्देह पहुंचाना है, उसके लिए किसी तरह के भी वस्त्र बाधा बन जाएंगे।

साधारणत: यह धारणा है कि अणुव्रत से महाव्रत फलित होता है। मगर गहराइयों पर उतरने से लगता है कि महाव्रत हमारे भीतरी विस्फोट का परिणाम है। जब चेतना पूरी की पूरी विस्फोट होती है तब महाव्रत उपलब्ध होता है। वह अणुव्रतों से नहीं निकलता। साधारणत: कायक्लेश सम्बन्धी धारणायें भी भ्रामक हैं। शरीर को सताना ही कायक्लेश तप माना जाता है। वह बिना नहाए-धोए, बिना खाए-पिए शरीर की दुश्मनी में तप माना जाता है। यही मोक्ष का उपाय समझा जाता है। एक आदमी सुबह घंटे भर व्यायाम करता है, पसीना बहाता है, अपने स्वास्थ्य के लिए। वह भी कायक्लेश कर रहा है लेकिन शरीर के हित में, शरीर के विरोध में नहीं। महावीर की सुन्दर काया को देखकर लगता हैं कि उन्होंने शरीर के हित में ही कायक्लेश किया। शरीर को संवारने में, शरीर के हित के लिए जो हम क्लेश उठाते हैं, सही अर्थों में वही कायक्लेश है।

इसी प्रसंग में 'उपवास' का अर्थ भी देखें । उपवास का अर्थ है आत्मा के निकट होना, अर्थात् व्यक्ति आत्मा में इतना लोन हो गया है कि शरीर का पता नहीं चलता। लेकिन सामान्यत: इसे 'अनशन' का पर्याय समझ लिया गया है। इन भ्रान्त धारणाओं के कारण कायक्लेश और उपवास के सही अर्थों को नहीं समझा जा सका। उपवास अनशन से बिल्कुल उलटा है। उपवास का मतलब है कि चेतना एकदम भीतर आत्मा के निकट चली जाए कि उसका बाहर का ख्याल ही न रहे। अनशन में, उपवास के बिल्कुल विपरीत, आदमी चौबीस घंटे शरीर के पास रहता

है जितना कि खाने वाला भी नहीं रहता। उसके मन में दिन भर खाना चलता रहता है। उपवास और अनशन बिल्कुल विरोधी प्रक्रियायें हैं।

आत्मदर्शन की प्रक्रिया में ध्यान का गहरा स्थान है। वह आत्मानुभूति का एकमात्र उपाय है। ध्यान के दो चरण है : प्रतिक्रमण और सामायिक। प्रतिक्रमण का अर्थ है कि जहां-जहां चेतना गई है वहां-वहां से उसे वापिस पुकार लेना, मित्र के पास से, शत्रु के पास से, पत्नी के पास से, बेटे के पास से, मकान से, धन से, सब ओर से उसे वापिस बुला लेना। सामायिक का अर्थ है समय में यानी आत्मा में होना। प्रतिक्रमण प्रक्रिया है चेतना को भीतर लौटाने की। सामायिक और सामायिक मार्ग हैं, दर्शन उपलब्धि है। सामायिक में स्थिर हो जाना आत्मा में प्रवेश करना है।

मोक्ष यात्रा का अन्त है। प्रत्येक मृत्यु में स्थूल देह मरती है, भीतर का सूक्ष्म शरीर नहीं मरता। सूक्ष्म शरीर एक जोड़ ह जो आत्मा और शरीर को पृथक् नहीं दिखने देता। लेकिन जब व्यक्ति न र्का रहा है, न भोक्ता रहा है, न प्रतिक्रिया करता है, केवल साक्षी रह जाता है तब सूक्ष्म शरीर पिघलने लगता है, बिखरने लगता है। फिर आत्मा और शरीर पृथक् दिखते हैं और व्यक्ति समझ लेता है कि यह आखिरी यात्रा है।

मगर मोक्ष के द्वार से भी वह करूणावश लौट सकता है सत्य की अभिव्यक्ति के लिए। महावीर उन व्यक्तियों में हैं जो माक्ष के द्वार से लौट आए हैं। उनकी बारह वर्ष की जो साधना है वह सत्य की उपलब्धि के लिए नहीं क्योंकि सत्य की उपलब्धि तो उन्हें पिछले जन्म में ही हो गई है। साधना इसलिए है कि वह जीवन के सब तलों तक, सब रूपों तक, पत्थर से लेकर देवता तक सत्य को अभिव्यक्त कर सकें। उनकी यह सतत चेष्टा रही है भूत, जड़, मूक जगत में अनुभूति तरंगें पहुंचाने की और इस चेष्टा में इतना गहरा तादात्म्य हो गया है मूक, जड़ जगत से कि कान में कीलें भी ठुकें तो पता न चले क्योंकि वह चट्टान हो गए हैं। महीनों बीत जाएं, भोजन की चिन्ता नहीं क्योंकि तादात्म्य हो जाने पर मूक जगत से उन्हें सूक्ष्म भोजन भी मिल सकता है। महावीर के सम्बन्ध में यह धारणा आचार्य जी की बिल्कुल अपनी मौलिक है।

महावीर की यह देन बिल्कुल अनोखी है। इस ओर न जीसस ने, न बुद्ध ने, न जरदुस्त ने, न मुहम्मद ने, न किसी दूसरे महामानव ने कोई मार्ग बताया है।

अनुभूमि की पूर्णता को कई व्यक्ति प्राप्त हुए हैं मगर अभिव्यक्ति की पूर्णता महावीर को ही उपलब्ध हुई है।

महावीर की शाखा सूख गई है। शाखा सूख जाती है तो भी वृक्ष खड़ा रहता है। वह फिर से फूट सकता है यदि महावीर को ठीक से समझा जा सके। फिर नये अंकुर आ सकते हैं इसमें, और नये अंकुर आने चाहिए। आचार्य जी का यह ग्रंथ इस दिशा में ही एक चरण है।

जैन धर्म- हिन्दू धर्म

आचार्य दयानन्द भार्गव

इस देश में अनेकाने विचारधाराओं का उद्‌भव और विकास हुआ है, जिनमें सम्भवतः दो विचारधाराएँ ऐसी हैं, जो सबसे अधिक लम्बे काल से चली आ रही हैं -वेद से उद्‌भूत वैदिक धारा और ऋषभदेव से उद्‌भूत निर्ग्रन्थ धारा। परम्परा में जैन और वैदिक के बीच जहां विवाद के संकेत मिलते हैं, वहाँ इन दोनों के बीच एक-दूसरे के प्रति सम्मान का भाव भी देखने में आता है। भागवत पुराण में जैनों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का जीवन-चरित्र विष्णु के अवतार के रूप में अत्यन्त सम्मानपूर्वक चित्रित किया गया है। दूसरो ओर उत्तआश्चययन में ब्राह्मण को उल्लेख तो उसके चरित्र के कारण सम्मानपूर्वक है ही, यह बात भी कम महत्वपूर्ण नहीं है कि अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के ग्यारह गणधर ब्राह्मण माने जाते हैं। इतना ही नहीं, उत्तआश्चययन में यह भी स्पष्ट किया गया है कि भगवान् महावरी का उदेश्य वेदों का विरोध करना नहीं अपितु उन भ्रान्तियों का निवारण करना था, जो युग के प्रभाव से वेदों के सम्बन्ध में फैल गयी थीं। इस सारी पृष्ठभूमि में यह जानना अत्यन्त रोचक होगा कि इन दोनों परम्पराओं के बीच परस्पर क्या साम्य अथवा क्या वैषम्य है?

सभी धर्म और दर्शन अपनी सामग्री अस्तित्व से ग्रहण करते हैं। जिस सामग्री का वे विश्लेषण करते हैं, वह सामग्री अस्तित्व में उपलब्ध होती है, किन्तु उस सामग्री का विश्लेषण वे अपनी -अपनी दृष्टि से करते हैं, इसलिए वे दर्शन कहलाते हैं। उस सामग्री का विश्लेषण करते समय व दर्शन जब कभी एक पक्ष को केन्द्र में रखते हैं, तो एक प्रकार का दर्शन विकसित हो जाता है और जब दूसरे पक्ष को केन्द्र में रखते हैं, तो दूसरा दर्शन विकसित हो जाता ह। उदाहरणतः वैदिक परम्परा ने प्रारम्भ में ब्रह्माण्ड को केन्द्र में रखा और इस विषय में विस्तार से विचार किया कि इस सृष्टि का जन्म कैसे हुआ और इस सृष्टि का क्या स्वरूप है? जैन परम्परा ने व्यक्ति को केन्द्र में रखा और उस पर विस्तार से विचार किया कि व्यक्ति कहाँ से आता है और कहाँ तथा क्यों कहीं जाता है? नासदीय सूक्त का प्रश्न है- **'कुत आयाता, कुत इयं विसृष्टिः'** यह विविध प्रकार की सृष्टि कहाँ से आई? आचारांग की जिज्ञासा है- **'के अहं आसीके वा इओ चुओ इइ पेच्चा भविस्सामि'**- मै पिछले जन्म में क्या था? मै यहाँ से च्युत होकर अगले जन्म में कहाँ होउँगा? इन दो प्रकार जिज्ञासाओं से दो प्रकार के दर्शन उद्‌भूत होते हैं।

प्रथम दृष्टि समष्टि के सम्बन्ध में जिज्ञासा लेकर चलती है। समष्टि को जान लिया तो व्यष्टि को जान लिया जायेगा, क्योंकि व्यष्टि समष्टि का ही भाग है। दूसरी दृष्टि की समझ यह है कि यदि व्यष्टि को जान लिया तो समष्टि को तो जान ही लिया जायेगा, क्योंकि व्यष्टि से ही तो समष्टि बनती है।

जो वैदिक दृष्टि समष्टि को अपना प्रारम्भ बिन्दु बनाती है, उसकी उपासना-पद्धति भी सामूहिक है और उसकी कर्त्तव्य मीमांसा भी सामाजिक है। यज्ञ अकेले नहीं किया जा सकता। विशेष अवसरों पर यज्ञ के लिए सोलह पुरोहित होने चाहिए। सामान्य यज्ञ में भी पति और पत्नी इन दो का जोड़ा तो होना ही चाहिये। 'यज्' धातु का अर्थ ही हो गया- संगतीकरण, जो मिलकर किया जाये। कर्त्तव्य-मीमांसा का सूत्र बना- '**संगच्छध्वं, संवदध्वं सं वो मनांसि जागताम्।**'

जैन परम्परा में, क्योंकि चिन्तन व्यष्टि से प्रारम्भ हुआ, इसलिए उनकी साधना पद्धति भी मूलतः व्यष्टिपरक है। यद्यपि संघबद्ध साधना को प्रवृत करने का श्रेय संभवतः जैन तीर्थकरों में पार्श्वनाथ को जाता है तथापि आज भी जैन साधु के तीन मनोरथों में एक मनोरथ यह है कि वह संघ-मुक्त होकर एकल-विहार करें। यह व्यष्टिपरक चिन्तन को केन्द्र में रखने का ही परिणाम है। जैन आचार-मीमांसा में सामयिक हो, प्रतिक्रमण हो, तप हो, ऐसी कोई भी चर्या नहीं है, जो व्यक्ति अकेला नहीं कर सकता है, जहाँ एक-से अधिक का रहना अनिवार्य हो-

व्यष्टि से प्रारम्भ करने का परिणाम हुआ- मोक्ष की कामना-मुमुक्षा। समष्टि से प्रारम्भ करने का परिणाम हुआ- सर्जन की कामना- सिसृक्षा। इन दो इच्छाओं से ही क्रमशः निवृत्ति मार्ग प्रवृत्त होते हैं। निवृत्ति मार्ग का लक्ष्य है कैवल्य अर्थात् आत्मा का अपने विशुद्ध, स्वरूप में स्थित हो जाना, उसमें किसो विजातीय तत्त्व का मिश्रण न रह जाना। वैदिक परम्परा का लक्ष्य रहा- 'एकोऽहं बहु स्याम्'। इसी लक्ष्य का फ लितार्थ हुआ, यह आदेश-**प्रजातन्तुं मा व्यवछेत्सीः, अपुत्रस्तु गतिर्नास्ति।** जैन परम्परा में केन्द्र में व्यक्ति आया। वैदिक परम्परा के केन्द्र में परिवार और समाज हो गया।

परिवार के केन्द्र में होने पर आदेश बना-मातृदेवो भवः, पितृदेवो भवः, समाज के केन्द्र में होने से आदेश बना- अतिथि देवो भवः। समस्त कर्म दो भागों में बंट गये - इष्ट और आपूर्त। इष्ट कर्मो ने मनुष्यों को देवता से जोड़ा, आपूर्त कर्मों ने मनुष्य को मनुष्य से जोड़ा । जैन परम्परा ने कर्म को दो भागों में बांट दिया- शुभ और अशुभ, किन्तु अन्तिम लक्ष्य अशुभ, अशुभ तो है ही नहीं और शुभ भी नहीं, अन्तिम लक्ष्य-शुद्धोपयोग, जो कर्म नहीं है अपितु अकर्म है। जहां तक अशुभ कर्म का सम्बन्ध है, दोनों की परम्पराएँ सहमत हैं कि समाज के लिए लाभदायक कर्म

करणीय है या नहीं। इस विषय पर दोनों परम्पराओं के बीच स्पष्ट मतभेद है। जैन परम्परा ऐसे समाजोपयोगी कार्यो को सामाजिक दृष्टि से उपयोगी मानते हुए भी उन्हें आत्मधर्म से नहीं जोड़ती । वैदिक परम्परा ऐसे कर्मो को मोक्षप्रद तो नहीं मानती किन्तु पुण्य अथवा स्वर्गप्रद अवश्य मानती है। जिसका कारण यह है कि वैदिक परम्परा का केन्द्र-बिन्दु तो समाज है जबकि जैन-परम्परा का केन्द्र बिन्दु व्यक्ति है। जैन परम्परा ऐसे किसी कर्म को शुभ मानने के लिए तैयार नहीं है, जो कर्म आत्मा की निर्मलता से भी न जुड़े। इधर वैदिक परम्परा का मानना है कि हर समाजोपयोगी कार्य आत्मा में निर्मलता लाता ही है।

वैदिक परम्परा ने धर्मों का विभाजन दो वर्गों में किया- सामान्य धर्म और विशेष धर्म। सामान्य धर्म व्यक्तिगत है, वह प्रत्येक के लिए वांछनीय है। विशेष धर्म समाज को केन्द्र में रखता है, उसका सम्बन्ध समाज-व्यवस्था से है वह प्रत्येक वर्ण का अलग-अलग है। सामान्य धर्म का फल आभा की निर्मलता है, विशेष धर्म का फल समाज व्यवस्था है। विशेष बात यह रही कि सामान्य धर्म और विशेष धर्म में विरोध होने पर भी यह नियम बनाया गया कि सामान्य धर्म विशेष धर्म से बाधित हो जायेगा। अहिंसा सामान्य धर्म है। अन्यायी के विरुद्ध हथियार उठाना क्षत्रिय का विशेष धर्म से बाधित हो जायेगा। अहिंसा सामान्य धर्म है। अन्यायी के विरुद्ध हथियार उठाना क्षत्रिय का विशेष धर्म है। अन्याय के उपस्थित होने पर क्षत्रिय सामान्य धर्म का पालन नहीं करेगा। अपने स्वधर्म का पालन करेगा, क्योंकि समाज व्यक्ति से ऊपर है। जैन धर्म की स्थिति इससे विपरीत है। जैन धर्म वर्ण-व्यवस्था पर ही नहीं टिका है, व्रत-व्यवस्था पर भी टिका है। व्रत किसी वर्ग विशेष के लिए नहीं अपितु सबके लिए बने हैं, वे सामान्य धर्म हैं और सर्वोपरि है।

सव एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिकोविधिः।
यत्र न सीयक्त्वहानिर्यत्र न व्रतदूषणम्।।

इतना अवश्य है कि स्थानांग सूत्र में नगरधर्म, कुलधर्म, राष्ट्रधर्म इत्यादि के अन्तर्गत जैन आचार्यो ने भी यह अनुभव किया कि समाज का संचालन शुद्ध आत्म-धर्म से नहीं हो सकता और व्यक्ति का कुद कर्त्तव्य परिवार और समाज के प्रति भी है, किन्तु परिवार और समाज के प्रति व्यक्ति का क्या कर्त्तव्य है, इसका विश्लेषण जैन परम्परा ने वैसा नहीं किया जैसा वैदिक स्मृतियों ने किया है। उन्होंने यह मान लिया कि देश, काल के अनुरूप सामाजिक कर्त्तव्यों का निर्णय व्यक्ति जैसी परिस्थिति होगी उसके अनुकूल कर लेगा। उसका 'इदमित्थंतया' वर्णन नहीं किया जा सकता और न विधिपरक वाक्यों से उसका विधान ही किया जा सकता है। इसलिए जैन परम्परा उन कर्मों को लौकिक कहती हैं। एक व्यवहारिक

उदाहरण लें, यदि कोई व्यक्ति रोगियों की चिकित्सा के लिए अस्पताल खुलवाना चाहता है तो वैदिक परम्परा उसके कार्य का अनुमोदन करेगी और यह मानकर चलेगी कि यह पुण्य कार्य है।

वैदिक वर्ण व्यवस्था में ऊँच-नीच का भाव था। मान्यता यह रही कि दृष्टि में समानता हो सकती है, किन्तु व्यवहार में समानता संभव नहीं है। आत्मा सबमें समान है, इसलिए सब समान है, किन्तु शरीर, मन बुद्धि तथा शक्ति में सभी अलग-अलग हैं। इसलिए इस दृष्टि से सबको समान नहीं समझा जा सकता। कालक्रम से वर्ण-व्यवस्था एक सामाजिक व्यवस्था न रहकर ऊँच-नीच के आधार पर मनुष्य-मनुष्य के बीच भेदभाव का हेतु बन गयी। जैन परम्परा आत्मधर्मी थी, उसने भेदभाव के विरुद्ध नारा लगाया- ' न कोई छोटा है, न कोई बड़ा', 'णो हीणे णा इरित्ते। जाति के आधार पर अपने आपको बड़ा मानने को जैन परम्परा ने जाति भेद, कुलभेद इत्यादि कहकर निन्दित माना। जैन परम्परा ने उचित-अनुचित की एक ही कसौटी बनायी-संयम ही उचित है, असंयम अनुचित है। इस आधार पर हरिकेशी मुनि का उदाहरण हमारे सामने आया, जो संयम के कारण पूज्य बने, यद्यपि वे जन्म की दृष्टि से चाण्डाल कुल में उत्पन्न हुए थे।

पूर्ण संयम का आदर्श लेकर चलने वाला व्यक्ति महाव्रती है। जो पूर्ण संयम का पालन नहीं कर सकता , वह अणुव्रत का पालन करता है, जितना व्रत का अंश है, उतना संयम है, वह धर्म है। परिवार, समाज, राष्ट्र के प्रति अपना दायित्व निभाने के लिए अणुव्रती संयम की रेखाओं को लांघता भी है, क्योंकि उसका वैराग्य इतना पुष्ट नहीं हुआ है कि वह परिवार, समाज और राष्ट्र के प्रति सर्वथा उदासीन हो जाये और साथ ही यह भी कि इनके प्रति अपने दायित्व को निभाना संयम की सीमाओं में रहते हुए संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में जितना संयम में रहना संभव है, वह उतने संयम का पालन करता है और अपने सामाजिक दायित्वों का निर्वाह करता है। ये सामाजिक दायित्व कौन-कौन से हैं और इनका निर्वाह कैसे किया जाये? इसका विशेष विवरण जैन परम्परा में उपलब्ध नहीं हैं। स्थानांग के इस उल्लेख से कि कुलधर्म तथा राष्ट्रधर्म भी होते हैं, यह सूचित अवश्य हो जाता है। जैन चिन्तकों को यह पता था कि सामाजिक प्राणी का आत्मा के अतिरिक्त परिवार और समाज के प्रति भी कुछ कर्त्तव्य होता है, क्योंकि सामाजिक कर्त्तव्य देश, काल, परिस्थिति के अनुसार बदलता रहता है, इसलिए सामाजिक प्राणियों को उसका निर्धारण समय-समय पर अपनी बुद्धि से स्वयं को करना होता है। आगम में उसका विस्तार और विधान प्राप्त नहीं होता, इस दृष्टि से जैन परम्परा को आत्मधर्मी कहा जा सकता है।

जहाँ तक आत्मधर्मी का प्रश्न है- जैन परम्परा और वैदिक परम्परा में कोई भेद दृष्टिगोचर नहीं होता। समाज धर्म के सम्बन्ध में वैदिक परम्परा व्रतों की निषेधकर प्रणाली भी अपनाती है और वर्ण-धर्म की विधिपरक प्रणाली भी अपनाती है। जैन परम्परा व्रत प्रणाली के अन्तर्गत सभी समाज विरोधी कार्यों का निषेध करती है, किन्तु समाजोपयोगी कार्यो का विधान कहीं आनुषंगिक रूप में ही उपलब्ध होता है। आत्मधर्म की दृष्टि से यह समाजोपयोगी कार्य हेय है अथवा उपादेय, इस प्रश्न को लेकर स्थानकवासी और तेरापंथी जैसे जैन परम्परा के उपसम्प्रदायों में परस्पर मतभेद है।

कालक्रम से जेन परम्परा और वैदिक परम्परा की व्याख्या में इतना अधिक मतभेद होता चला गया कि इदमित्थंतया उन परम्पराओं के मूल रूप से सम्बन्ध में कुछ भी कहना सम्भव नहीं रहा। जैन परम्परा तो प्रथम दिगम्बर-श्वेताम्बर के रूप में विभक्त होती हुई मूर्तिपूजक-स्थानकवासी-तेरापंथ जैसे उप-सम्प्रदायों में विभक्त हो गई और वैदिक परम्परा शैव, वैष्णव, शाक्त जैसे सम्प्रदायों में तथा षड् वैदिक दर्शनों में विभक्त हो गई । इतने अधिक विभाजन के बाद जैन और वैदिक परम्परा की तुलना करने मं यह कठिनाई सामने आती है कि हम जैन परम्परा की वैदिक परम्परा की किस धारा से तुलना करें? न्याय जैसे वस्तुवादी, सांख्य जैसे द्वैतवादी और वेदान्त जैसे अद्वैतवादी-सभी वैदिक परम्परा के हैं। अनेकान्त को लें तो यह पूर्व मीमांसा को स्वीकाय है और उत्तर मीमांसा-वेदान्त को अस्वीकार्य है। अहिंसा की बात वैष्णव को मान्य है, शाक्त को नहीं।

यह कठिनाई होने पर भी वैदिक परम्परा की तथा जैन परम्परा की कुछ मौलिक अवधारणाओं की चर्चा की जा सकती है। जैन परम्परा अनीश्वरवादी है, वैदिक दर्शन ईश्वरवादी है- ऐसे कथन तो आज्ञा पर ही टिके हैं, क्योंकि मीमांसा और सांख्य उसी प्रकार अनीश्वरवादी हैं जिस प्रकार जैन।

दर्शन युग में वैदिक दर्शनों के केन्द्र में भी व्यक्तगत मोक्ष की चर्चा उसी प्रकार आ गयी, जिस प्रकार वह जैन परम्परा में प्रारम्भ से ही थी। दार्शनिकों ने समाज व्यवस्था की चर्चा स्मृतिकारों पर डाल दी और वे स्वयं व्यक्ति की मुक्ति की चिन्ता में लग गये। मोक्ष मार्ग की साधना पद्धति जैन और वैदिक परम्परा की लगभग एक-सी ही रहीं, जिसका प्रतिनिधि ग्रन्थ पतंजलि योग-सूत्र है। पतञ्जलि योग-सूत्र यद्यपि सांख्य के द्वैतवाद पर आश्रित है तथापि उसी पद्धति को अद्वैतवादी वेदान्त ने भी स्वीकार कर लिया। पातञ्जल योग जैन और वैदिक परम्परा का मिलन बिन्दु है।

गीता ने वैदिक परम्परा में बहुत प्रतिष्ठा पाई। स्थितप्रज्ञ की अवधारणा में जैन परंपरा की समता की अवधारणा ज्यों की त्यों अन्तर्गर्भित हो गयी। शंकराचार्य ने तो गीता की निवृत्तिप्रेरक व्याख्या भी ऐसी कर दी जो जैन-दृष्टि के बहुत निकट आती है, किन्तु गीता का मूल आशय कुछ और ही है। बाह्य प्रवृत्ति का समन्वय हो सकता है। जैन परम्परा आन्तरिक निवृत्ति के साथ बाह्य निवृत्ति को भी अपरिहार्य मानती रही। चतुर्थ अथवा पंचम गुणस्थान तक तो बाह्य प्रवृत्ति जैन परम्परा के अनुसार सम्भव है, किन्तु छठे गुणस्थान में गीता प्रतिपादित बाह्य प्रवृत्ति सम्भव नहीं है।

आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत सन्यास धर्म वैदिक परम्परा में भी वैसा ही प्रतिपादित है जैसा जैन परम्परा में किन्तु वैदक परम्परा में सन्यास को ही मोक्ष का मार्ग मानने का वैसा आग्रह दिखाई नहीं देता जैसा कि जैन परम्परा में है। वैदिक परम्परा जनक को गृहस्थ में रहते हुए भी मुक्त मानती हैं। जैन परम्परा गृहलिंगी सिद्ध की बात करती जरूर है लेकिन व्यवहार में वह मोक्ष के लिए सन्यास को समझना अनिवार्य मानती है। दिगम्बर परम्परा तो गृहलिंगी सिद्ध की अवधारणाा को भी स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है।

लगता है कि वैदिक परम्परा की समाज-मूलकता ने मोक्ष धर्म के केन्द्र में आ जाने पर भी गृहस्थ की महिमा को कम नहीं होने दिया। जैन परम्परा में गृहस्थ धर्म कोई अपनी स्वतन्त्र महत्ता स्थापित नहीं कर सकता। श्रावकाचार मुनि धर्म का संक्षिप्त संस्करण है। वैदिक परम्परा का गृहस्थ धातु का लघु रूप नहीं है, उसकी कर्मठता का एक स्वतंत्र स्थान है।

वस्तुतः आश्रम व्यवस्था के मूल में जैन वैदिक परम्परा की निवृत्ति तथा प्रवृत्ति के समन्वय का प्रयत्न दृष्टगोचर हाता है, किन्तु इतिहास में आश्रम व्यवस्था व्यापक स्तर पर कभी स्थापित नहीं हो सकती। 'गृहीभूत्वा वनी भवेत् वनीभूत्वा प्रव्रजेत्' स्थान पर 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्' के विकल्प का पालन अधिक हुआ। वैदिक सन्यासियों की संख्या कम नहीं है, किन्तु वह आचार को उन कठोर नियमों से जकड़ा हुआ दिखायी नहीं देता, जिन नियमों से जैन साधु बंधा हुआ है। यद्यपि सिद्धान्ततः वैदिक सन्यासी के लिए जो भी नियम दिये गये हैं, वे कम कठोर नहीं है।

वैदिक परम्परा समाज व्यवस्था के नाम पर वर्णाश्रम का नाम लेती है। जैन परम्परा अणुव्रतों की चर्चा करती है, किन्तु ये दोनों मिलकर कोई एक ऐसी व्यवस्थित समाज व्यवस्था नहीं दे पा रही, जो हमारे राष्ट्र को पश्चिम के विकसित राष्ट्रों के समकक्ष खड़ा कर सके। दोनों परम्पराओं के पोषक अपने-अपने नियमों

को सब समस्याओं का समाधान घोषित करने में लगे हैं, किन्तु न तो वैदिक धर्मावलम्बी वर्णाश्रमाश्रित समाज बना पाये हैं और न जैन व्रती-समाज का निर्माण कर पाये हैं। फलतः व्यक्तिगत स्तर पर तो एक भारतीय अन्य देशवासी से कम नहीं है, किन्तु एक राष्ट्र के रूप में हम अनेक छोटे-छोटे राष्ट्रों की अपेक्षा भी पिछड़े हुए रह गये हैं।

इधर जैन परम्परा में कानजी स्वामी जैसे विचारकों के कारण एक नई विचारधारा उद्भूत हुई है। वैदिक परम्परा में तो आर्य समाज, रामकृष्णमिशन, अरविन्द दर्शन आदि-आदि अनेक विचारधाराएँ पनपी हैं, किन्तु ये सब मिलकर भी एक राष्ट्र को एक ऐसा समाज दर्शन नहीं दे पायी, जिसके आधार पर हम अपनी अर्थनीति, शिक्षानीति, राजनीति आदि का निर्णय कर पायें। फलस्वरूप इन दिशाआं के लिए हमारा राष्ट्र आज भी पश्चिम से ही प्रेरणा ले रहा है। हमारे विश्वविद्यालयों के अर्थशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि विभागों में पढ़ाया जाने वाला पाठ्यकम्र हमारी उक्त धारणाा की पुष्टि ही करेगा। हम पश्चिमी विद्वानों के मत हो पढ़ाये जाने के लिए मजबूर हैं, क्योंकि भारत इन शास्त्रों के सन्दर्भों में कोई बहुत परिपक्व सिद्धान्त दे ही नहीं पाया है। आवश्यकता इस बात की है कि आज श्रमण - ब्राह्मण पुराना विवाद छोड़कर हम सभी भारतीय एक ऐसी सामाजिक नीति अपनायें, जो हमारी राष्ट्रीय निधि हो, किसी एक सम्प्रदाय की थाती नहीं। सम्प्रदाय व्यक्तिगत हैं, इसलिए वे अलग-अलग हो सकते है। पूरे भारत को एक इकाई के रूप में सोचकर एक इकाई के रूप में व्यवहार करना होगा। व्यक्तिगत उपासना में हम अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग कर सकते है।

यदि हम एक समाज-दर्शन विकसित नहीं कर पाये तो प्रकृत्ति इस शून्य को सहन नहीं करेगी और पश्चिम का दर्शन हमारे शून्य को भर देगा। आज यही हो रहा है। हमारी जीवनशैली ही नहीं, विचारधारा भी पश्चिम से आयातित है। अस्तित्व में देशी-विदेशी का विभाजन नहीं है। पश्चिम से कुछ आये- इसमें कोई बुराई नहीं है, विचारणीय यह है कि जो कुछ हमें पश्चिम से मिल रहा है ? क्या वह समीचीन है ? अथवा क्या हम उसमें अपने देश की पुरानी परम्परा से कुछ जोड़कर अथवा घटाकर उसे और अधिक परिपूर्ण बना सकते हैं ?

जैन परम्परा और वैदिक परम्परा हजारों वर्षों से एक-दूसरे के आस-पास फलती-फूलती रही हैं, अतः वे एक -दूसरे को प्रभावित नहीं करती, यह संभव नहीं था। वैदिक समाज मांसाहार से बहुत परहेज करता हो, ऐसा नहीं लगता। वैष्णव सम्प्रदाय में मांसाहार को छोड़ने पर बल दिया गया है, किन्तु भारत के बहुत बड़े भाग में शाकाहार के प्रचलन का श्रेय जैन-धर्म को दे सकते हैं। सन्यास का

भी बहुत विकसित रूप वैदिक काल में नहीं मिला, बाद में यति धर्म का विस्तृत विवेचन हुआ है। जैन परम्परा में मुनिधर्म का प्रारम्भ से ही सूक्ष्म विवेचन उपलब्ध था। वैदिक परम्परा में सन्यास के विकास में भी जैन मुनि की चर्चा ने बहुत प्रेरणा दी होगी। दूसरी ओर जैन-गृहस्थ, सामाजिक दृष्टि से हिन्दू समाज का ही अंग हैं, अत: हिन्दुओं के कर्मकाण्ड से वे अप्रभावित नहीं रह सके। दिगम्बर सम्पद्राय में यज्ञोपवीत धारण करने की और यज्ञ करने की परम्परा आज भी प्रचलित है। विवाह तो सभी जैनों के वैदिक पद्धति से होते रहे हं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के मंदिरों में पुजारी का काम वैदिक ब्राह्मण ही करते रहे हैं।

वैदिक परम्परा मुख्यत: ज्ञानप्रधान रही जबकि जैन परम्परा मुख्यत: चरित्रप्रधान रही । जैन दर्शन के ज्ञान पक्ष के विकास में उन आचार्यों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा, जो मूलत: ब्राह्मण थे। जैन आचार्यों के सदाचार के प्रचार से वैदिक समाज प्रभावित हुये बिना नहीं रह सका। महात्मा गांधी के जीवन में अपरिग्रह, अहिंसा और शाकाहार के प्रति जो आग्रह दिखाई देता है उसमें जैन साधक श्रीमद् रायचन्द्र के प्रभाव का बहुत बड़ा योगदान हैं, आचार्य विनाबा भावे ने भी जैन सम्मत अनशन पद्धति से ही अपनी शरीर छाड़ा था।

विचार के क्षेत्र में आचार्य कुन्दकुन्द के 'समयसार' जैसे ग्रन्थ पर सांख्य दर्शन का और अमृतचन्द की टीका पर वेदान्त का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। वस्तुस्थिति यह है कि कालक्रम में जैसे ही हम उपनिषद्काल में आये हैं, वैदिक परम्परा भी संहिता के सूक्तों में अभिव्यक्त चिन्तनशैली को छोड़कर, आत्मोन्मुखी हो जाती है और तब से लेकर वैदिक धारा और जैन धारा समानान्तर प्रवाहित होती हुई दृष्टिगोचर होती हैं। इन दोनों धाराओं का लक्ष्य मोक्ष बन गया है, जिसकी प्राप्ति का साधन वीतरागता है। ध्यान, प्राणायाम, तप, त्याग, ध्यान ये दोनों ही परम्पराओं की साझी थाती है।

वैदिक परम्परा और जैन परम्परा के बीच दोनों को जोड़ने वाली एक महत्त्वपूर्ण कड़ी संस्कृत भाषा है, जिसका दोनों ने भरपूर उपयोग किया है। वैदिक परम्परा के भी संस्कृत नाटककारों ने जैन आगमों की भाषा प्राकृत को उन्मुक्त मन से अपनाया है। वैदिक परम्परा के प्रसिद्ध नायक राम और कृष्ण भी जैन परम्परा के शलाका पुरुष हैं।

वस्तुत: जीवन में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनां का महत्त्व है। प्रवृत्ति गति देती है, निवृत्ति ब्रेक लगाती है। बिना ब्रेक के गति घातक हो सकती है और बिना गति के ब्रेक निरर्थक है। जैन परम्परा और वैदिक परम्परा एक-दूसरे की पूरक हैं,

विरोधी नहीं और यदि विरोधी भी हों तो अनेकान्त के सिद्धान्तानुसार एक-दूसरे के प्रति सहायक ही होंगी, बाधक नहीं।

जैन परम्परा में विधायक मूल्य

डॉ. दयानन्द भार्गव विपुल

जैन आचार-शास्त्र में अधिकतर अहिंसा आदि की चर्चा होती है जो स्वरूपत: निषेधात्मक हैं अर्थात् उनमें निषेध सूचक नञ्-समास है। यहाँ तक कि सत्य को भी विधि रूप में न कहकर मृषावाद-विरमण कहकर निषेध परक ही बना दिया गया है। किन्तु यह निषेधात्मक-प्रियता सार्वत्रिक नहीं है। हम यहाँ पाँच ऐसे मूल्यों की चर्चा करेंगे जिनका निर्देश विध्यात्मक रूप में हुआ है। वे पाँच मूल्य हैं- श्रम, स्वावलम्बन, वैयावृत्य, स्थिरीकरण तथा वात्सल्य/परम्परा में इन पाँचों मूल्यों को एक विशिष्ट आध्यात्मिक रूप दिया गया है किन्तु आज के युग में हम इन पाँचों मूल्यों का सामाजिक व्याख्यान भी कर सकते हैं। भले ही ऐसी व्याख्या आध्यात्मिक न होगी किन्तु वह अध्यात्म के विकास में सहायक तो होगी ही।

आदिम समाज में रम का महत्त्व था। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आवश्यकता की पूर्त्ति के लिये स्वयं श्रम करना पड़ता था। पूँजीवाद आया तो श्रम को धन देकर खरीदने की प्रथा आयी। किसी आवश्यकता के लिये व्यक्ति को स्वयं श्रम करने की आवश्यकता नहीं रही। यदि मेरे पास पैसा है तो मैं पैसे से किसी दूसर का श्रम खरीदकर अपनी आवश्यकता पूरी कर सकता हूँ। श्रम बेचने के लिये बहुत लोग तैयार थे, पैसा कम लोगों के पास था इसलिये श्रम सस्ता मिलने लगा। इससे शोषण चालू हुआ। उसके विरोध में मार्क्सवाद आया। जैन धर्म ने श्रम को बहुत महत्त्व दिया है। यदि आज के सन्दर्भ में समाज में श्रम का महत्त्व स्थापित किया जा सके, तो एक शोषण-विहीन समाज की नीवं डाली जा सकती है।

श्रम का ही एक पक्ष है- स्वावलम्बन। भगवान् महावीर ने घोषणा की कि हे पुरुष! तुम अपने मित्र स्वयं हो, फिर बाहर मित्र क्यां खोजते हो। यह घोषणा आत्म विश्वास की घोषणा है, स्वतन्त्रता की घोषणा है। मनुष्य में अनन्त शक्तियों का भण्डार है। यदि मनुष्य उन्हें पहचान ले तो उसे किसी प्रकार की चिन्ता की आवश्यकता नहीं है। महात्मा गाँधी ने स्वावलम्बन का एक रूप स्वदेशी के रूप में दिया। हम अपने उपयोग की वस्तु स्वयं पेदा करेंगे। आज भी भूमण्डलीकरण के बहाने विदेशी हमें आर्थिक रूप से ही नहीं, सांस्कृतिक रूप से भी पराधीन बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। हम सारे संसार से जुड़ें पर स्वावलम्बी बनकर आत्मविश्वास के साथ, हीनता या दीनता की भावना से नहीं।

जैन परम्परा का साधु-संघ समभवत: संसार का प्राचीनतम साधु-संघ है। उस संघ का एक आधार है- वैयावृत्य अर्थात् यदि कोई साधु किसी प्रकार से असमर्थ हो जाता है तो समर्थ साधुओं का प्रथम कर्त्तव्य उसकी सेवा करना है। सामाजिक परिप्रेक्ष्य में हम इस परम्परा को विस्तार दे सकते हैं। यदि समाज का कोई अङ्ग निर्बल है तो समर्थ व्यक्तियों को उसका सहयोग करना चाहिये। उत्तम सहयोग की प्रथम शर्त तो यह है कि सहयोग करने वाला अहङ्कार न करे और सहयोग लेने वाले में किसी प्रकार की हीनता की भावना पैदा न होने दे। दूसरे सहयोग करने के बदले में हम इहलोक में प्रशंसादि की तथा परलोक में स्वार्गादि की आशंसा न करें। तीसरे हम यह देखें कि हमारे सहयोग से सहयोग पाने वाला ऊपर उठ रहा है, नीचे नहीं गिर रहा।

वैयावृत्य में सेवा मुख्य है, स्थिरीकरण में सहयोग मुख्य है। दोनों में अधिक भेद नहीं है। किन्तु सेवा निर्बल की समर्थ करता है। सहयोग बराबर वालों में भी होता है। वस्तुत: अनैतिक कार्यो में लिप्त व्यक्तियों में परस्पर बहुत सहयोग होता है लाखों के सौदे केवल जबान देने पर हो जाते हैं। नैतिकता के क्षेत्र में कदम कदम पर कष्ट हैं। कई बार मनुष्य की आस्था डगमगा जाती है। ऐसे में हम सबका कर्त्तव्य है कि नैतिकता के अनुसरण करने वाले को मार्गच्युत होने से बचायें।

पाँचवॉ मूल्य वात्सल्य का है। ऐसा भ्रम है कि नैतिक व्यक्ति नीरस होते हैं। वीतरागता के लिये तो उदासीनता जैसे शब्दों का व्यवहार भी होता है। वीतरागता सांसारिक सुखों के प्रति उदासीन बनाती है किन्तु जीवन के सहज आनन्द को उद्घाटित करती है। सांसारिक सुखों को हम अपने तक ही सीमित रखना चाहते हैं, उसे बाँटना नहीं चाहते किन्तु सहज आत्मिक सुख को हम सब में बाँटना चाहते हैं। अत: सांसारिक सुख ईर्ष्या और सङ्कीर्णता को जन्म देते हैं। वीतरागता की आत्मीयता ही वास्तविक प्रेम है। हम पूर्ण वीतरागता से अभी दूर हैं किन्तु फिर भी सङ्कीर्ण स्वार्थ में सिमट कर अपने में ही बन्द हो जाना घुटन पैदा करता है। हम अकारण मैत्री का अभ्यास करें।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जैन धर्म हमें सामाजिक और व्यावहारिक जीवन के लिये भी बहुत से महत्त्वपूर्ण सूत्र देता है। अध्यात्म के क्षेत्र में तो उसका सन्देश महत्त्वपूर्ण है ही। राजनैतिक तथा सामाजिक क्षेत्र में कार्य करने वालों के लिये भी जैन चिन्तन में मूल्यवान् बिन्दु उपलब्ध हैं। उन बिन्दुओं को अध्यात्म का सामाजिकता को योगदान कहा जा सकता है।

योगसाधना एवं समाज

आचार्य महाप्रज्ञ के शिक्षागुरु आचार्य तुलसी ने समाज और राष्ट्र की चिन्ता के सम्बन्ध में एक सूत्र दिया- सुधरे व्यक्ति समाज व्यक्ति से राष्ट्र स्वयं सुधरेगा कोई भी आध्यात्मिक पुरु ष समाज अथवा राष्ट्र की समस्याओं के लिये यही सूत्र दे सकता है। सामाजिक परिस्थितियां बदलती है, राजनैतिक प्रणालियां भी बदलती है। ऐसी स्थिति में समाज व्यवस्था के अथवा राष्ट्र निर्माण के कोई ऐसे सूत्र देना संभव नहीं है जो शाश्वत हो अत: जैन आचार्य सोमदेव सूरि ने यह घोषणा की कि लौकिक विधि कोई भी हो वह जैनों के लिये स्वीकार्य है। केवल दो नियमों का पालन होना चाहिये। (१) दृष्टि सम्यक् बनी रहे और (२) व्रतों का उल्लघन न हो।

यत्र न सम्यक्त्वहार्नि यत्र न व्रतदूसणम्।
सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः ।।

सम्यक्त्व दृष्टि का सूचक है जो व्यक्ति के आन्तरिक भावों को बताता है और व्रत व्यक्ति के बह्य व्यवहार को सूचित करना है। व्यक्ति के सुधरने का अर्थ है दृष्टि सम्यक् हो और व्यवहार संयमित हो। यदि व्यक्ति में ये दो शर्ते पूरी हो जाती है तो समाजवादी व्यवस्था हो या स्वतन्त्र समाज की व्यवस्था हो राजतन्त्र हो या प्रजातन्त्र हो एक सुखी समाज और समृद्ध राष्ट्र का निर्माण हो सकता है। इसके विपरीत यदि दृष्टि सम्यक् नहीं है और व्यवहार में संयम नहीं है तो कोई भी व्यवस्था सुखी समाज और व्यस्थित राष्ट्र को जन्म नहीं दे सकती।

सम्यग् दृष्टि और संयमित जीवन यही योग का लक्ष्य है। योग अपने इन दो लक्ष्यों के माध्यम से ही समाज और राष्ट्र का भी हित करता है। इसलिये एक अपेक्षा से योग नितान्त वैयक्तिक है। किन्तु वह समाज निरपेक्ष नहीं है। योग व्यक्ति के माध्यम से समाज के निर्माण में सहयोग करता है यह उसकी समाज सापेक्षता है किन्तु साथ ही उसकी समाज सापेक्षता यह भी है कि एक योगी को भी ऐसा परिवेश चाहिये जो उसकी साधना में सहायक हो बाधक नहीं। इसलिए आचार्य महाप्रज्ञ ने केवल यही प्रतिपादित नहीं किया कि व्यक्तिगत हित के साथ-साथ योग की साधना किस प्रकार परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व के लिये भी हितकर हो सकती है बल्कि यह भी बताया कि समाज की एक ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये जो साधना में साधक हो, बाधक नहीं। यह चिन्तन आचार्य महाप्रज्ञ के अनेकान्त परक दृष्टिकोण का फल है।

योग का लक्ष्य एवम् आवश्यकता

योग का एकमात्र लक्ष्य है- व्यक्ति का परिष्कार। स्पष्ट है कि यह परिष्कार यदि केवल बौद्धिक विकास से ही संभव होता है तो तर्क शास्त्र का अध्ययन पर्याप्त था। योग अथवा साधना की आवश्यकता ही नहीं थी, किन्तु बौद्धिक रूप से अत्यन्त विकसित व्यक्ति भी व्यवहार में असंतुलित और दृष्टि में दिग्मूढ देखने में आते हैं। इसलिए योग की आवश्यकता स्वत: सिद्ध है। फिर भी क्योंकि योग हमारी शिक्षा प्रणाली से बहिष्कृत हो चुका है अथवा अधिक से अधिक हमारी शिक्षा प्रणाली में यदि कहीं योग का न्यूनाधिक स्थान है भी तो वह योग के आठ अंगो में से एक अंग आसन तक सीमित है अत: आचार्य महाप्रज्ञ को शिक्षा के एक ऐसे नये आयाम जीवन विज्ञान का आविष्कार करना अभिप्रेत हुआ। जिसमें योग का सर्वांङ्गीण विकास हो।

आचार्य महाप्रज्ञ द्वारा प्रतिपादित योग के स्रोत

जैन योग की ओर पूरी भारतीय परम्परा में भी योग की एक समृद्ध आचार्य महाप्रज्ञ को विरासत में प्राप्त थी तथापि उसे आधुनिक सन्दर्भ में ढालने का एक महत्तर कार्य करना शेष था जिसे करने में आचार्य महाप्रज्ञ ने तीन स्रोतों का उपयोग किया-

१. जैन और जैनेतर योग सम्बन्धी विपुल प्राचीन साहित्य।
२. अपनी स्वयं की गहन गम्भीर दीर्घकालिक साधना।
३. एक महत्त्वपूर्ण संघ के विशिष्ट साधु युवाचार्य और आचार्य के रूप में सहज सुलभ व्यापक जन सम्पर्क से प्राप्त फोडबेक।

वर्तमान युग में योग विषय पर चिन्तर करने वाले किसी दूसरे व्यक्ति को शायद ही ये तीन स्रोत एक साथ इतने समृद्ध रूप में सुलभ रहे हों। आचार्य महाप्रज्ञ ने एक चौथे स्रोत का भी उपयोग किया- वैज्ञानिक अनुसंधान। विशेषकर शरीर विज्ञान ओर मनोविज्ञान के क्षेत्र में अधुनातन अनुसंधान द्वारा उपलब्ध तथ्य। इस प्रकार आ.महा. के योग सम्बन्धी चिन्तन में हम चतुर्मुखता पाते हैं। उन चारों स्रोतों का पूर्ण उपयोग करते हुये आचार्य महाप्रज्ञ ने एक ऐसी प्रणाली का विकास किया जो प्राचीन होने के नाते सर्वथा शास्त्रोक्त थी किन्तु साथ ही अधुनातन अनुसंधानों सु जुड़ी होने के नाते वैज्ञानिक भी है।

आचार्य महाप्रज्ञ का अवदान

आचार्य महाप्रज्ञ के योग सम्बन्धी अवदान को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। (१) सैद्धान्तिक और (२) प्रायोगिक।

योग एवं शिक्षा

सैद्धांतिक पक्ष जीवन विज्ञान के अन्तर्गत चर्चित हुआ है और प्रायोगिक पक्ष प्रेक्षा ध्यान के अन्तर्गत । आचार्य महाप्रज्ञ का आग्रह है कि शिक्षा-व्यवस्था के अन्तर्गत योग के प्रायोगिक रूप का भी समावेश होना चाहिये। उनका यह आग्रह नहीं है कि यह प्रायोगिक रूप प्रेक्षाध्यान ही हो। विपश्यना, जैसी अन्य पत्रतियां भी प्रेक्षाध्यान के समानान्तर प्रचलित हैं। प्रेक्षाध्यान के अन्तर्गत लेश्या ध्यान जैसी कुछ नवीनता भी है तथापि आचार्य महाप्रज्ञ का विशेष योगदान इस दिशा में है कि उन्होंने विज्ञान आधृत और सम्प्रदाय निरपेक्ष एक ऐसी पृष्ठभूमि योग को प्रदान की जो सार्वभौम है। इस पृष्ठभूमि की संक्षिप्त चर्चा करना अपप्रासंगिक न होगा।

समस्या का मूल

मनुष्य के जीवन की समस्या के मूल में राग है जो द्वेष का जनक है। राग और द्वेष हमें तटस्थ नहीं रहने देते। जहाँ तटस्थता नहीं है वहाँ असंतुलन पैदा हो जाता है और असंतुलन असफलता का जनक है। यह असंतुलन व्यवस्थागत भी है और आन्तरिक भी। आन्तरिक संतुलन बना रहे यह कार्य अध्यात्मका है । व्यवहार में असंतुलन न हो यह कार्य समाज विज्ञान का है।

स्पष्ट है कि जब तक राग-द्वेष है तक तक आसक्ति है और जब तक आसक्ति है तक तक हमारा ज्ञान यथार्थ नहीं हो सकता। वीतरागता सर्वज्ञता की अनिवार्य शर्त है। राग का अर्थ है-संग्रह की प्रवृत्ति चेतना को कुंठित करती है। चेतना के इस कुंठित होने का नाम ही मूर्च्छा है।

अध्यात्म का अर्थ है- त्याग। त्याग का अर्थ है- मूर्च्छा का टूटना। और चेतना का जागना। जैसे ही हमारी मूर्च्छा टूटती है वैसे ही हम पाते हैं कि संसार के सुख-भोग संतुष्ट नहीं कर पा रह हैं। यही संवेग है। यही वैराग्य है। यहीं से मोक्ष की इच्छा प्रारम्भ होती है।

मूर्च्छा एक है उसकी अभिव्यक्ति अनेक रूपों में होती है। पदार्थ के प्रति आसक्ति दृष्टि के प्रति आसक्ति।

द्वन्द्व का जीवन

पदार्थ के प्रति आसक्ति समाज में विषमता उत्पन्न करती है। व्यक्ति के प्रति आसक्ति संगठन या संस्थाओं में ठीक निर्णय नहीं होने देती और विचार की आसक्ति हमें सत्य तक नहीं पहुंचने देती।

वस्तुतः मूर्च्छा का भाव अस्तित्व को दो भागों में बांट देता है। हमें कुछ अनुकूल लगता है, कुछ प्रतिकूल। आसक्ति न हो तो न कुछ अनुकूल है और न कुछ प्रतिकूल । आसक्ति के कारण अस्तित्व जिन दो भागों में बंट जाता है वही

द्वन्द्व है। यह द्वन्द्व मुख्यत पांच प्रकार का है- सुख-दु:ख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा, मान-अपमान, लाभ-अलाभ। यह द्वन्द्व ही संसार है। पृथ्वी, पर्वत और नदी का नाम संसार नहीं। इन द्वन्द्वो से मुक्त हो जाना ही अध्यात्म है। अध्यात्म इस जीवन की वस्तु है। कोई रहस्यात्मक वस्तु नहीं है। यह द्वन्द्व ही विषमता उत्पन्न करता है। विषमता का प्रतिपक्ष ही समता है।

साव पदार्थ के आधीन नहीं

हमें यह भ्रम है कि सुख-दु:ख पदार्थ में है इसलिए हमारी दृष्टि पदार्थोन्मुख हो गई है यही परतन्त्रता का कारण है। वस्तुस्थिति का कारण है। वस्तुस्थिति यह है कि सुख-दु:ख प्रकम्पनों में है। प्रकम्पन हमारे आधीन है। यदि हम उन प्रकम्पनो पर नियन्त्रण कर सके तो हमारा सुख-दु:ख पर नियन्त्रण हो जायेगा। यही स्वतन्त्रता है।

जहाँ जीवन के परिष्कार का प्रश्न है हमें अपना दृष्टिकोण भाव और आचरण तीनों का परिष्कार करना है। इन तीन में भी भाव मुख्य है। भाव के बिना किया भी सफल नहीं होती।

'यस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भावशून्या:'

सभी सुख क्षणिक हैं। क्योंकि हमारी मनोदिशाये बदलती है इसलिए सभी सुख अस्थायी हैं। स्थायी है समता का सुख। समता कहे वीतरागता कहें शुद्ध आत्मा कहें एक ही बात है। वहाँ न सुख है न दु:ख । सुख बटोरना दु:ख से भागना यह लौकिक पुरुषार्थ है। योगी का पुरुषार्थ है सुख दु:ख में समान रहना।

यथार्थ का अवबोध

इच्छा प्राणीमात्र में रहती है वही सुख दु:ख का मूल कारण है। जहाँ इच्छा है वहाँ राग-द्वेष है। जहाँ राग द्वेष है वहाँ यथार्थता का बोध नही है। यथार्थता का बोध न हो पाना ही अज्ञान है। जो स्वयं दु:ख रूप है। जब हमारा अस्तित्त्व सीमित रह जाता है। उसकी अखण्डता नष्ट हो जाती है ओर हमारे हाथ लगती है खण्डित चेतना अर्थात किञ्चनता अथवा मेरे पास कुछ है ऐसा मूर्च्छा का भाव। यही वीतरागता की अखण्ड चेतना को आवृत्त कर लेता है तब हमें अस्तित्व की अनुभूति नही होती। हम व्यक्ति से बंधकर रह जाते है। यही बन्धन है।

सत्य उन्मुक्त है। वह बंधा हुआ भी नहीं है। न वह दृश्य है। और न बुद्धिगम्य । वह तर्कातीत है और केवल अनुभवगम्य है। जब बहिरात्मा अन्तरात्मा बनती है तभी सत्य का अनुभव होता है। वहाँ विचार नहीं है। विचार से बंधकर हम सत्य के एक अंश को ही देख पाते हैं, पूर्ण सत्य को नहीं।

ज्ञान का अर्थ न विचार है न विचारों का बांधने वाला शब्द समूह। सत्य का सम्बन्ध उस भाव जगत् से है जहाँ विचार की पहुंच नहीं है। विचार हमारे अस्तित्व का ऊपरी धरातल है। उसके नीचे एक परामानसिक व्यक्तित्व है। उसे सूक्ष्म श्रीर कहे या कर्म शरीर । हमारा समस्त क्रिया कलाप वहीं से उद्‌भूत होता है। कोई भी रूपान्तरण जब तक परामानसिक स्तर पर न हो स्थायी नहीं हो सकता।

पदार्थवाद की सीमा

पदार्थ आवश्यक है किन्तु वह सब कुछ नहीं है। पदार्थ को सब कुछ समझ लेने का परिणाम है चैतन्य की उपेक्षा। जब चैतन्य को उपेक्षा होती है तो परिग्रह प्रतिष्ठित हो जाता है और परिग्रह के प्रतिष्ठित होने पर हिंसा अपरिहार्य है। परिग्रह और हिंसा की युति जीवन में न शान्ति रहने देती है और न शुद्धि। वैसी स्थिति में पदार्थ भी सुख नहीं दे पाता। वही पदार्थवाद की असफलता है कि जिस सुख की आशा में हम पदार्थ का संग्रह करते हैं पदार्थ हमें वह सुख भी नहीं दे पाता है।

साधना के क्षेत्र में श्रद्धा का बहुत महत्त्व है किन्तु श्रद्धा अन्धविश्वास का पोषण नहीं है। श्रद्धा हमारे अन्धविश्वासो को तोड़ती है व्यावहारिक दृष्टि से किन्हीं साम्प्रदायिक मान्यताओं में निष्ठा रखना उपयोगी हो सकता है किन्तु परमार्थत तो आत्मबोध ही सम्यक्त्व है।

वैराग्य का स्वरूप

व्यवहार में कर्म का महत्त्व है। कर्म की प्रेरक असक्ति है। साधना में जागने का महत्त्व है। आगरण की प्रेरक अनासक्ति है। जब अनासक्ति होती है तब शुद्ध चेतना का अनुभव होता है। शुद्ध चेतना का अनुभव होते ही अपने मं छिपी शक्तियों का परिचय मिलने लगता है। फिर त्रिलोकी का वैभव तुच्छ प्रतीत होता है। यह पर वैराग्य है। इस वैराग्य में दृष्टि बाह्य पदार्थो पर केन्द्रित नहीं रहती अपितु आत्मा केन्द्रित हो जाती है। ऐसी स्थिति में आसन सिद्धि कायोत्सर्ग और पाणायाम अनायास सिद्ध हो जाते है। उनके लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता। किन्तु इससे पूर्व की स्थिति में ये और अनुप्रेक्षा, जप और स्वाध्याय सायास भी करने पड़ सकते हैं।

यथार्थ में योग का अधिकारी वह है जो विरक्त है। जिसकी दृष्टि निषेधात्मक है वह योग से भी कुछ प्राप्त नहीं कर पाता।

अनुभव का स्वरूप

अनुभव का अर्थ है अर्थ का स्पर्श हो शब्द का आलम्बन न हो। जहाँ शब्द नहीं है वहाँ विकल्प भी नहीं है और जहाँ विकल्प नही है वहाँ दो होने पर भी न द्वेत है न

द्वन्द्व । यही अप्रमाद ह यही भावक्रिया है। यही स्थिति दृढ़ होने पर सहज हो जाती है। ध्यान आन्तरिक तप है। इसका फल है- निर्जरा। समता में स्थित होने का फल है-निंतर। जहाँ समता है वहाँ द्वन्द्व निष्प्रभ हो जाते हैं। यह योग की उत्कृष्ट स्थिति है।

कर्म बनाम अकम

हमारी क्रियाओं के मूल में लोभ या काम रहता है। यही वह स्पन्दन या तरंग उत्पन्न करता है जो भाव को जन्म देती है। यही भाव सघन होकर क्रिया बन जाता है। योग इन तरंगो पर नियन्त्रण पाने की प्रक्रिया है।

हमारे समस्त कर्म इच्छा से प्रेरित होते हैं। जिस कर्म के पीछे केवल मुक्ति की प्रेरणा हो वह कर्म भी अकर्म है। चिन्त की एकाग्रता के द्वारा हम सही निर्णय ले पाते हैं। मन की एकाग्रता संकल्प को बलवान बनाती है। मन वर्तमान में संकल्प विकल्प करता हे। अतीत की स्मृति करता है और भविष्य की कल्पना करता है। अस्तित्व तब प्रकट होता है जब मन शान्त हो। ऋ.. .. मन का प्रकाश है। मायाचारिता मन का अन्धकार है।

नीति, कर्त्तव्य और धर्म में नीति स्थूल है। उसका कहना है तुम्हें अच्छाई का पालन करना होगा। कर्त्तव्य नीति से सूक्ष्म है कर्त्तव्य की भाषा है तुम्हें अच्छाई की पालन करना चाहिये। धर्म उससे भी सूक्ष्म है- धर्म का कहना है तुम अच्छाई से भिन्न कुछ भी नहीं हो।

व्यक्तित्व के रूपान्तरण के अनेक उपाय हैं। जप उनमें से एक है। सूक्ष्म उच्चारण का स्पन्दन गन्थि-भेदन में सहायक है। यदि हम अपने कषाय का विश्लेषण करने लगे तो भी कषाय मन्द होते हैं। जब तक अह है तब तक असीम शक्ति का संचार नहीं होता। अहंकार के विसर्जित होने पर जो शून्यता प्राप्त होती है। साधारण स्थिति में अतियोग तो हानिकारक है ही अयोग भी हानिकारक है। मध्यम मार्ग श्रेयस्कर है।

योग में शरीर भी सहायक बनता है। सुषुम्ना में प्राण के प्रवाद का बहुत महत्त्व है। ईड़ा और पिगला विषम है। सुषुम्ना सम है। इसी प्रकार विश्लेषण और संश्लेषण करने वाले बांये ओर दायें मस्तिष्क के बीच संतुलन स्थापित करना भी समता में स्थित होने का एक उपाय है। समता में ही पदार्थ भी सुख देता है। समता के बिना पदार्थ हो तो भी वह सुख नहीं दे पाता। समता का यह अर्थ नहीं है कि इन्द्रियों के विषयों का ग्रहण न हो। समता का अर्थ है विषयों के साथ हमारी प्रियता और अप्रियता न जुड़े।

यदि हमारे जीवन में संतुलन होगा तो समता सध जायेगी। विकल्प हो तो निर्विकल्पना भी हो। विचार हो तो निर्विचारता भी हो। कर्म हो तो अकर्म भी हो। वचन हो तो मौन भी हो। स्मृति हो तो विस्मृति भी हो।

परिष्कार का एक अर्थ है- चेतना का अध्वीकरण अर्थात् कामकेन्द्र से ज्ञान केन्द्र की ओर गमन। इससे वृत्तियों का परिष्कार होता है। कायोत्सर्ग के अनेक फ ल है। ऑक्सीजन की खपत कम हो जाना, देह की और बुद्धि की जड़ता नष्ट हो जाना, द्वन्द्व सहिष्णुता और चित्त की एकाग्रता । विभिन्न केन्द्रो पर ध्यान करने का फ ल भी अलग-अलग है। ज्योतिकेन्द्र पर श्वेत वर्ण के ध्यान करने से कषायों का उपशम होता है। प्राण केन्द्र पर ध्यान करने से प्रमाद दूर होता है। अप्रमत्त अवस्था में भावक्रिया होती है। तब सभी क्रिया ध्यान बन जाती है।

योग का क्षेत्र त्रेकालिक है। ध्यान में अतीत का प्रतिक्रमण करना होता है, वर्तमान का संवर और भविष्य का प्रव्याख्यान। वस्तुतः तीनों काल परस्पर जुड़े हैं। जब ज्ञान तटस्थ होता ह, स्थित होता है और यथार्थ होता है तब वही ज्ञान ध्यान बन जाता है।

श्रुत ज्ञान भी मन की स्थिरता का एक साधन है। ध्यान अशुभ विचारों को रोकता है और विकल्प जाल के विस्तार को नहीं होने देता। अनुभव में शब्द नहीं रहता । किन्तु अनुभव के द्वारा रूपान्तरण हो जाता है।

ध्यान रासायनिक परिवर्तन लाता है। रासायनिक परिवर्तन आने पर प्रायश्चित और प्रायश्चित और प्रव्याख्यान स्वयं घटित हो जाते हैं। व्यष्टि और समष्टि परस्पर जुड़े हैं। उनका परस्पर वैसा ही सम्बन्ध है जैसा सम्बन्ध तन्तु और वस्त्र का है। हमारी अशान्ति का जन्म आसक्ति और सुविधावाद के कारण होता है। मनुष्य का सुख-दुःख उसके स्वयं के आधीन है। मनुष्य स्वयं को बदल सकता है।

बदलने का साधन है- आदर्श ध्येय का चुनाव। जैसा ध्येय होता है वैसा ध्याता बन जाता ह। धार्मिक होने का अर्थ है व्यक्ति स्थूल में न अटके और सूक्ष्म का स्पर्श करे। आँख बन्द करने का अर्थ है अन्तर में जाग जाना सो जाना नहीं। परिवर्तन बाह्य निमित्तों से भी लाया जा सकता है किन्तु वह परिवर्तन अस्थायी है। स्थायी परिवर्तन अध्यात्म से ही संभव है। अध्यात्म का एक अर्थ है - शरीर। आत्मा का अस्तित्त्व शरीर के माध्यम से ही प्रकट होता है। शरीर की प्रेक्षा से अपने अस्तित्त्व का बोध होता है। ध्यान से शरीर स्वरूप भी रहता है किन्तु यह ध्यान का आनुसंगिक फ ल है। जैसे ही अध्यात्म की चतना जागती है वैसे ही व्यक्ति स्वतन्त्रता का अनुभव करने लगता है।

अध्यात्म की साधना में पहले निरर्थक विकल्प जाते हैं और सार्थक विकल्प आते हैं फिर वे भी चले जाते है। प्रारम्भ में ध्याता और ध्येय दोनों पृथक् रहते है अन्त में वे एक हो जाते है। शुद्ध ज्ञान ज्ञान है वह राग-द्वेष से युक्त होने पर अज्ञान बन जाता है।

विकास के कुछ और क्रम भी है। बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। विकास का एक क्रम यह है। विकास का दूसरा क्रम है अधोलोक से मध्यलोक और मध्यलोक से ऊर्ध्वलोक का आरोहण। सामुदायिक जीवन में मूर्च्छा का सर्वथा अभाव नहीं हो सकता किन्तु यही मूर्च्छा जब अनियन्त्रित होती है तो अध्यात्म के साथ ही सामाजिक जीवन को भी अस्त-व्यस्त कर देती है। योग मूर्च्छा को संयमित करता है। जो मूर्च्छित करे वह योग नहीं है। मूर्च्छा में कर्म तन्त्र निष्क्रिय हो जाता है। किन्तु चेतना का स्पर्श नहीं हो पाता। जो आत्मा में लीन है वह कष्टों को सहन कर सकता है। आत्म दर्शन ही परमात्मा दर्शन भी है। कष्ट सहिष्णुता अथवा तप वृत्ति का शोधन करता है। आत्मा कहें स्वभाव कहें । राग द्वेष कषाय ये स्वभाव की उपलब्धि में बाधक हैं अत: ये विभाव है। जन चेतना का जागरण होता है तो परिस्थितियां बाधक नहीं बन पाती।

मन चंचल हो तो व्यक्ति दिग्मूढ हो जाता है। न उसमें क्रमबद्धता रह पाती है न सार्थकता । वस्तुत: विकल्प का प्रयोग विधायक रूप में भी किया जा सकता है जो हमारा ध्येय होता है उसके गुण हममें संक्रमित हो जाते हैं। एक सुन्दर प्रयोग है कि रेचन प्राणायाम के समय निषेधात्मक भाव का विरेचन करें। पूरक प्राणायाम के समय विधायक भाव को ग्रहण करें और कुम्भक में निर्विकल्प रहें। चैतन्य का जागरण होता है तो क्रमश: वैराग्य, समता, प्रसन्नता और एकाग्रता सिद्ध होती है। वीतरागता की स्थिति में पदार्थ पदार्थ के रूप में ही रहता है। उसके साथ प्रियता-अप्रियता का भाव नहीं जुड़ता। यही समता का सूत्र है। वीतरागता कहें अथवा समता यही सत्य के साक्षात्कार का साधन है।

सत्य का एक फूल है-संतुलन। प्रवृत्ति और निवृत्ति में, कर्म और ज्ञान में, बाह्य जीवन और आन्तरिक जीवन में संतुलन योग का मार्ग है।

शरीर में प्रवत्ति और संस्कार का मल एकत्र होता है। वह कायोत्सर्ग, आसन, प्राणायाम से दूर होता है। शरीर के अधोलोक में कुवृत्तियों का वास है। शरीर की शुद्धि के लिये उदर शुद्धि चाहिये और उदरशुद्धि के लिये आहार निहार और विहार उपयुक्त होने चाहिये। शरीर संयम का अपना महत्त्व है। हाथ पर संयम रखने से स्पर्शनेन्द्रिय का संयम होता है। पांव के संयम से चक्षु का संयम होता है और वाणी के संयम से श्रोत्रेन्द्रिय का संयम होता है। सत्य और जप वाक् शुद्धि के

साधन है एकाग्रत मान-शुद्धि का साधन है। रसना इन्द्रिय पर संयम सबसे अधिक महत्त्व का है। रसनेन्द्रिय पर संयम का अर्थ है- हित-मित आहारा प्रसिद्ध है कि जैसा अन्न होगा वैसा मन बन जायेगा। आसनो से सहिष्णुता बढ़ती है। जब रूपान्तरण हो जाता है तो नियन्त्रण की आवश्यकता नहीं रहती। रूपान्तरण शोधन से होता है।

श्वास और नि:श्वास के बीच का क्षण महत्त्वपूर्ण है। दीर्घश्वास से आवेश शान्त होते हैं।

लेश्या और भाव के स्तर पर नियन्त्रण नहीं शोधन कार्य करता है। भाव का शोधन होने पर व्यवहार स्वत: शुद्ध हो जाता है। क्योंकि भाव ही सबका उपादान कारण है। हमारी स्वत: चालित क्रियाएं भाव के आधीन हैं। भाव को बदलने में मंत्र भी साधन बन सकता है। अशुभ लेश्याओं को शुभ लेश्याओं द्वारा अभिभूत किया जा सकता है। चेतना से तेजस शरीर, उससे विधुत शरीर, उससे किरणें और उससे आभामण्डल निर्मित होता है। आभामण्डल से श्वास के वर्ण, रस, गंध और स्पर्श बनते हैं।

शरीर और मन का सम्बन्ध होता है कि कफ के दूर होने से लोभ नष्ट होता है। वायु का नाश होने से काम वासना का नाश होता है। उपवास से विष का विरेचन होता है। अध्यात्म और विज्ञान की भाषा अलग है किन्तु भाव एक ही है। उदाहरणत:

	अध्यात्म	विज्ञान
१.	कषाय चेतना का शमन	अन्त:स्रावी ग्रन्थियों के स्राव का परिवर्तन।
२.	अहिंसा का विकास	स्वत: चालित नाड़ी संस्थान पर नियन्त्रण
३.	शुभ का विकास	प्रकाश वाले रंगों का ध्यान

हमारा व्यवहार शारीरिक है विचार मानसिक है। इन दोनों का सम्बन्ध स्नायुओं से है किन्तु भाव स्नावयिक नहीं है। उसका सम्बन्ध लेश्या से है।

योग की चरम स्थिति है अति-मानसिक स्थिति। जहाँ केवल प्रकाश रहता है। यह समाधि की स्थिति है। जिसमें केवल आन्तरिक जागरु कता रहती है। सबीज समाधि साधन हे। निर्बीज समाधि साध्य है। निर्बीज समाधि में केवल ज्ञान रहता है, निर्विकल्प चेतना रहती है। वहाँ न तरंग ह। अकर्म से ही सिद्धि प्राप्त होती है। शुद्ध चेतना के अस्तित्व का बोध होता है। वही समता है। वहाँ शरीर मन और वाणी में एकरुपता आ जाती है।